गद्य-काव्य संकलन

डा० शम्भुनाथ सिंह

(पूर्व मध्यमा परीक्षा के द्वितीय वर्ष के लिए स्वीकृत पाठ्य-पुस्तक)

सम्पादक—

डा० शम्भुनाथ सिंह

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

प्रकाशक

कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स

ज्ञानवापी, वाराणसी ।

रथयात्रा

सं० २०२४ वि०

पंचम संस्करण ११००

मूल्य—

…ो रुपया

मुद्रक—

परिमल मुद्रणालय, भैरोनाथ, वाराणसी ।

अनुक्रमणिका

हमारे परीक्षोपयोगी प्रकाशन

साहित्य प्रवाह	श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़	६)
काव्य-निर्णय	सं० पं० जवाहर लाल चतुर्वेदी	१५)
रसिक-प्रिया	सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	६)
प्रिया-प्रकाश	सं० स्व० लाला भगवानदीन	६)
कृति और कृतिकार	श्री सुधाकर पाण्डेय	४)
अध्ययन के विचार	'वेदन'	३)५०
पद्मनाभिका	श्री शांतिप्रिय द्विवेदी	२)५०
कामायनी-समीक्षा	श्री सुधाकर पाण्डेय	३)
प्रसाद काव्य कोष	श्री सुधाकर पाण्डेय	१६)
सुन्दर विलास	सं० डा० किशोरीलाल गुप्त	८)
मीरा जीवन और काव्य	सुधाकर पाण्डेय	१)

प्रकाशक

कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स

ज्ञानवापी, वाराणसी ।

प्राक्कथन

भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने काव्य के अन्तर्गत गद्यात्मक और पद्यात्मक दोनों प्रकार की रचनाओं को स्थान दिया है। उनके अनुसार रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाली कोई भी रसात्मक रचना, चाहे वह गद्य में लिखी गयी हो या पद्य में, काव्य है। इसीलिए संस्कृत के आलंकारिकों ने अपने ग्रन्थों में काव्य की विवेचना करते समय मुक्तक और प्रबन्ध काव्यों के साथ-साथ नाटक और कथा-आख्यायिका की भी विवेचना की है। यही नहीं, संस्कृत साहित्य में गद्यकारों को भी कवि ही माना जाता रहा है। इसी कारण भवभूति और बाणभट्ट की जो केवल गद्यकार ही थे, संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ कवियों में गणना होती है। कारण यह है कि संस्कृत की साहित्य-परम्परा में कवि की कसौटी गद्यही माना जाता था--'गद्य कवीनां निकषं वदन्ति'। आजकल लोगों में यह भ्रम सामान्य रूप में देखा जाता है कि जो छन्दोबद्ध रचना होती है वही काव्य है और जो छन्द में नहीं, गद्य-रूप में है, वह काव्य नहीं है यानी अकाव्य है। किन्तु संस्कृत साहित्य के प्रमाणों और उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि यह धारणा कितनी भ्रान्त है। संस्कृत का प्राचीनतम वांङ्मय अधिकतर छन्दोबद्ध है पर वह सभी काव्य नहीं माना जाता। पुराण, स्मृतियाँ आयुर्वेद के ग्रन्थ, ये सभी पद्य में होते हुए भी काव्य नहीं है। उसी तरह कालिदास, शूद्रक, भास, भवभूति आदि-आदि के नाटक और सुबन्धु, दण्डी, बाण आदि की कथा-आख्यायिकायें गद्य में होते हुए भी काव्य ही हैं। इस तरह संस्कृत का काव्य गद्यात्मक और पद्यात्मक दोनों ही है।

किन्तु एक बात और ध्यान में रखने की यह है कि आधुनिक युग में गद्य के जितने रूप या विधायें प्रचलित हैं उतनी प्राचीन भारतीय साहित्य में नहीं थीं। आधुनिक हिन्दी साहित्य में इनका प्रचलन अधिकांश में पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क के कारण हुआ है। पाश्चात्य-साहित्य के अभाव के फलस्वरूप ही आधुनिक युग में गद्य की अधिकांश विधाओं को काव्य नहीं कहते। इसका कारण यह है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में गद्य-साहित्य भी रसात्मक ही होता था, किन्तु आज का भारतीय गद्य साहित्य रसात्मक नहीं, पाश्चात्य गद्य साहित्य की भाँति प्रभावान्वित युक्त होता है। प्राचीन संस्कृत गद्य साहित्य काव्य के सभी गुणों—जैसे अलंकार, ध्वनि, रस आदि से युक्त होता था, किन्तु आज के भारतीय गद्य साहित्य में ये तत्व अनिवार्य नहीं रह गये हैं। किन्तु आज की कविता भी गद्य की भाँति ही रसात्मक और अलंकारयुक्त नहीं रह गयी है। प्रस्तुत ग्रन्थ में संगृहीत गद्य-रचनायें यद्यपि प्राचीन संस्कृत गद्य की तरह सर्वत्र रसात्मक नहीं है, फिर भी इस संकलन का नाम गद्य काव्य-संकलन रखा गया है क्योंकि इसमें संकलित रचनायें शुष्क शास्त्रीय गद्य नहीं हैं, साहित्यिक गद्य हैं और भारतीय साहित्य की परम्परा के अनुसार काव्य और साहित्य अभिन्न हैं।

संस्कृत साहित्य में गद्य-काव्य के अन्तर्गत, नाटक और कथा आख्यायिका को ही ग्रहण किया जाता था, आलोचनात्मक और विवेचनात्मक गद्य को काव्य नहीं माना जाता था। किन्तु आधुनिक युग में गद्यकाव्य की सीमा का विस्तार हो गया है। आज तो साहित्यिक गद्य के भीतर नाटक, एकांकी नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, गद्यगीत, जीवनी, यात्रावर्णन, शब्दचित्र (स्केच), ललित विवरण (रिपोर्ताज) आदि अनेक विधायें सम्मिलित हैं। ये तो रचनात्मक साहित्य की विधायें हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त साहित्य-समीक्षा, सैद्धान्तिक आलोचना, व्याकरण और भाषाविज्ञान सम्बन्धी निबन्धों और प्रबन्धों को भी साहित्य के

अन्तर्गत ही माना जाता है क्योंकि वे काव्य न होते हुए भी काव्य के ज्ञान के लिए अनिवार्य हैं। इस तरह आधुनिक गद्य-साहित्य की सीमा बहुत व्यापक है। प्रस्तुत संग्रह में आधुनिक हिन्दी गद्य-साहित्य की उपर्युक्त अधिकांश विधाओं के उत्कृष्ट उदाहरणों को संकलित किया गया है जिससे छात्रों को ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार हिन्दी-गद्य के प्रसिद्ध निर्माताओं की शैलियों के साथ साथ उसके विविध अंगोपांगों के विकास का भी पता चल सके।

यों तो हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ आज से एक सहस्र वर्ष पूर्व हो गया था किन्तु हिन्दी में गद्य-साहित्य का निर्माण आधुनिक काल में व्यापक रूप में प्रारम्भ हुआ। आधुनिक काल १८५० ई० के बाद से माना जाता है। इसके पूर्व हिन्दी-साहित्य के इतिहास के तीन कालों—आदिकाल, पूर्वमध्यकाल और उत्तर मध्यकाल—की अधिकतर छन्दोबद्ध काव्य-रचनायें ही मिलती हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि उक्त पूर्ववत कालों में गद्य था ही नहीं या गद्य में साहित्य की रचना बिल्कुल ही नहीं होती थी। व्यावहारिक जीवन में बात-चीत और लिखने पढ़ने का सब कार्य जैसे आज गद्य के माध्यम से होता है वैसे ही उन कालों में होता होगा किन्तु गद्य में साहित्य की रचना हिन्दी में पहले बहुत कम होती थी जिस तरह हिन्दी का प्राचीन काव्य विभिन्न प्रादेशिक बोलियों—ब्रज, अवधी राजस्थानी, मैथिली और खड़ी बोली में मिलता है उसी तरह जो भी थोड़ा-बहुत प्राचीन गद्य हिन्दी में मिलता है वह इन्हीं बोलियों में है। १८वीं शताब्दी के पूर्व का हिन्दी-गद्य बहुत कम मिलता है। ग्यारहवीं शताब्दी में बाबा गोरखनाथ के लिखे कुछ ग्रन्थ बताये जाते हैं जो ब्रजभाषा गद्य में हैं। मैथिली भाषा में ज्योतिरीश्वर ठाकुर का लिखा ग्रन्थ वर्णरत्नाकर भी आदिकाल का ही है। पूर्व मध्यकाल में अधिकतर ब्रजभाषा में ही गद्य रचनायें हुई और इसका श्रेय कृष्ण-भक्ति आन्दोलन को है। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में

महाप्रभु बल्लभाचार्य के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ के लिखे दो गद्य-ग्रन्थ 'शृंगार रस मंडल' और 'राधाकृष्ण विहार' मिलते हैं। बल्लभाचार्य के शिष्य हितराय के लिखे सात गद्य ग्रन्थ हैं सत्रहवीं शताब्दी में विट्ठलनाथ के पुत्र गोसाईं गोकुलनाथ के दो ग्रन्थ 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' बहुत प्रसिद्ध हैं सत्रहवीं शताब्दी में ही नन्ददास, नाभादास, बनारसीदास, किशोरीदास और बैकुण्ठदास शुक्ल ने ब्रजभाषा गद्य में ग्रन्थ लिखे।

राजस्थानी भाषा में पूर्व मध्यकाल में 'ख्यात' और 'वचनिका' नाम देकर अनेक गद्य ग्रन्थ लिखे गये किन्तु उनका साहित्यिक महत्व अधिक नहीं हैं। इनमें प्रतापसिंह कृत 'चन्द्रकुँवर की बात' विशेष उल्लेखनीय है। प्राचीन खड़ी बोली गद्य का प्रयोग मुख्यतः दक्षिण के मुसलमान सूफी सन्तों ने किया। अकबर के दरबारी कवि गंगाभट्ट कृत 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' को खड़ी बोली हिन्दी का प्रथम गद्य-ग्रन्थ बताया जाता है। इसके बाद सं० १७९८ में पटियाला के राजपुरोहित रामप्रसाद निरंजनी ने 'भाषा योगवाशिष्ट' नामक ग्रन्थ की रचना की जो बहुत प्रांजल खड़ी बोली गद्य में है। सं० १८१८ में मध्यप्रदेश में दौलतराय ने जैन पद्मपुराण का खड़ी बोली गद्य में अनुवाद किया।

खड़ी बोली गद्य में साहित्य रचना का वास्तविक प्रारंभ १८०० ई० के बाद हुआ। ब्रिटिश राज्य स्थापित होने पर भारतीय जनता के जीवन मे एक नया मोड़ आया। अंग्रेजों ने जो राज्य व्यवस्था प्रारंभकी वह पूर्व प्रचलित राज्य व्यवस्था से बिलकुल भिन्न थी। उन्होने सारे देश को रेल, तार, डाक और शासन संबंधी अनेकानेक विभागों द्वारा एक सूत्र में बाँध दिया। अपने ही हित की दृष्टि से सही, अंग्रेजों ने यहाँ शिक्षा की समुचित व्यवस्था की और वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता से देश का औद्योगीकरण प्रारंभ किया। इन सब बातों का परिणाम यह

हुआ, सारे देश में एकता की भावना आयी और अन्तर प्रान्तीय आवागमन तेजी से होने लगा। अन्तर प्रान्तीय सम्बन्धों के बढ़ाने के साथ ही एक ऐसी भाषा आवश्यक हो गयी जिसे देश के अधिकाधिक लोग पारस्परिक व्यवहार की भाषा बना सकें। देश की राजधानी मुगलकाल में दिल्ली थी। अतः दिल्ली के आसपास की लोक-भाषा खड़ी बोली अपने आप अन्तरप्रान्तीय व्यवहार की भाषा बन गयी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अंग्रेजों को हिन्दी सिखाने के लिए खड़ी बोली गद्य में पुस्तकें लिखवायीं। इसी समय यूरोप से ईसाई धर्म-प्रचारक भी यहाँ अपने धर्म का प्रचार करने आये और जनता में अपने धर्म ग्रन्थों को प्रचारित करने के लिए उन्होंने खड़ी बोली गद्य में उनका अनुवाद कराया। छापे की मशीनों का प्रचलन अंग्रेजों ने इस देश में किया जिससे उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही पुस्तकों और समाचार पत्रों का छपना प्रारम्भ हुआ। समाज-सुधार का आन्दोलन भी उन्नीसवीं शताब्दी में सारे देश में प्रारम्भ हुआ और स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे धर्म-सुधारक ने खड़ी बोली हिन्दी को आर्य समाज की मुख्य भाषा के रूप में अपनाया और सत्यार्थप्रकाश तथा अन्य ग्रन्थ उन्होंने हिन्दी में ही लिखे। इस तरह उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के साथ खड़ी बोली हिन्दी में साहित्य की रचना का प्रारम्भ तेजी हुआ।

आधुनिक हिन्दी गद्य के प्रणेता चार व्यक्ति हैं; लल्लू लालजी, सदल मिश्र, सदासुखलाल और इन्शाअल्ला खाँ। लल्लू लालजी आगरे के गुजराती ब्राह्मण थे। ये फोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता में हिन्दी के अध्यापक थे और वहीं सन् १८०३ में इन्होंने "यामनी भाषा छोड़ दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में" प्रेमसागर नामक ग्रन्थ की रचना की यद्यपि उसमें व्रजभाषा के शब्द रूप भी पर्याप्त मिलते हैं। प्रेमसागर के अतिरिक्त इन्होंने खड़ी बोली का व्याकरण 'भाषा-कायदा' और बिहारी सतसई की टीका 'लाल चन्द्रिका' भी लिखी थी। सदल मिश्र भी फोर्ट विलियम

कालेज में ही अध्यापक थे जो गद्य की पाठ्य-पुस्तकें भी तैयार करते थे। इन्होंने सन् १८०३ में कालेज के प्रधानाध्यापक जान गिलक्रिस्ट की आज्ञा से नासिकेतोपाख्यान नामक ग्रन्थ की रचना की जो ब्रजभाषा मिश्रित खड़ी बोली में है। मुन्शी सदासुखलाल ने सन् १८१८ ई० में 'सुखसागर' की रचना की। इस ग्रन्थ का गद्य बहुत प्रांजल और साहित्यिक है। इन्शाअल्ला खाँ उर्दू के लेखक और दिल्ली तथा बाद में लखनऊ के दरबारी शायर थे किन्तु अपनी मौज में इन्होंने हिन्दी में 'रानी केतकी की कहानी' नाम के ऐसे ग्रन्थ की रचना की जिसमें "हिन्दी की छुट और किसी और बोली की पुट नहीं है और जिसकी भाषा ऐसी 'मुहावरेदार और चलती हुई है कि उसमें 'हिन्दवीपन' तो है पर 'भाषापन' नहीं है। ये चारों लेखक हिन्दी-गद्य के जनक माने जाते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में काशी के राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द और आगरे के राजा लक्ष्मणसिंह ने हिन्दी गद्य को नये ढंग से संवारने का प्रयास किया। राजा शिवप्रसाद पहले तो शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे पर बाद में उनकी भाषा उत्तरोत्तर अरबी-फारसी के शब्दों से भरी होने लगी। इसके विपरीत राजा लक्ष्मणसिंह ने तत्सम और तद्भव शब्दों से युक्त शुद्ध हिन्दी-गद्य में अभिज्ञान शकुन्तला और रघुवंश का अनुवाद करके हिन्दी का रूप स्थिर करने में महत्वपूर्ण योग दिया। बंगाल के दो व्यक्तियों राजा राममोहनराय और नवीनचन्द्रराय ने भी उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी गद्य के लिए अत्यन्त सराहनीय कार्य किया। राजा राममोहनराय ने सन् १८१५ में वेदान्त सूत्रों का भाष्य हिन्दी में किया और १८२९ ई० में हिन्दी बंगदूत नामक पत्र का प्रकाशन किया। उन्होंने जो हिन्दी-गद्य लिखा उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है।

इस तरह उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिन्दी-गद्य साहित्य-रचना की भूमिका तैयार हुई। गद्य-साहित्य का सचेष्ट और व्यापक रूप में प्रारम्भ सन् १८५० ई० के बाद भारतेन्दु-युग में प्रारम्भ हुआ। वस्तुतः

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही हिन्दी गद्य साहित्य के सच्चे अर्थ में जन्मदाता हैं। खड़ी बोली गद्य का रूप तो सामने आ गया था लेकिन अभी उसमें साहित्य का नितान्त अभाव था। भारतेन्दु जी ने स्वयं लिखकर और अपने मित्रों और परिचितों से लिखाकर इस अभाव की पूर्ति के लिए तन, मन और धन से पूर्ण प्रयत्न किया। उन्होंने हरिश्चन्द्र मैगजीन और कवि वचन-सुधा नामक दो पत्र भी प्रकाशित किये। अपने पत्रों में वे विविध प्रकार की गद्य रचनायें छापते थे जिससे गद्य साहित्य के निर्माण में बहुत सहायता मिली। उन्होंने गद्य साहित्य की अनेक विधाओं का जो उसके पूर्व हिन्दी में नहीं थीं स्वयं प्रारम्भ किया और प्राचीन विधाओं का पुनः प्रचलित किया। उदाहरण के लिए नाटक तो भारतीय साहित्य में पहले से था पर हिन्दी में उसका अभाव था। इसलिए भारतेन्दु जी ने नाटकों की ही रचना अधिक की। उन्होंने कुल सत्रह नाटक लिखे जिनमें पाँच संस्कृत से एक बँगला से और एक अंग्रेजी से अनूदित हैं और शेष दस मौलिक हैं। मौलिक नाटकों में सत्य हरिश्चन्द्र बहुत ही प्रसिद्ध हुआ और आज भी बहुत लोकप्रिय है। नाटक के अतिरिक्त उन्होंने निबन्ध, कहानी, ऐतिहासिक चरित्र, यात्रा वर्णन, समालोचना, शोध-निबन्ध आदि अनेक गद्य विधाओं के माध्यम को अपना कर हिंदी-साहित्य के भण्डार को भरने का अनवरत प्रयास किया।

भारतेन्दु जी ने गद्य-साहित्य के निर्माण का प्रयास अकेले ही नहीं किया अपने सभी मित्र और परिचित लेखकों को उन्होंने गद्य रचना की ओर प्रेरित और प्रोत्साहित किया। इस कारण सन् १८५० से १९०० ई० तक के पूरे काल को ही भारतेन्दु युग कहा जाता है। भारतेन्दु युगीन गद्यकारों में अम्बिकादत्त व्यास, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, पं० प्रताप नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास, जगमोहन सिंह, बाबू तोताराम, केशवराम भट्ट, काशीनाथ खत्री, राधाकृष्ण दास, कार्तिक प्रसाद खत्री, राधाचरण गोस्वामी और लाल खड्गबहादुर मल्ल

प्रमुख हैं अम्बिकादत्त व्यास ने 'गो संकट' और मरहठा' नाटक की रचना की। बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन मीरजापुर से आनन्द कादम्बिनी और नागरी नीरद नामक पत्र निकालते थे •इनके गद्य-ग्रन्थों में भारत सौभाग्य और वीरांगना रहस्य प्रमुख हैं।

भारतेन्दु युग में भारतेन्दु के बाद सर्वाधिक उत्कृष्ट गद्यकार पं० प्रतापनारायण मिश्र थे जो कानपुर से 'ब्राह्मण' पत्र निकालते थे' भारतेन्दु जी ने यदि नाट्य साहित्य का भण्डार भरा तो मिश्र जी ने निबन्ध के क्षेत्र में अभूतपूर्व कार्य किया। इन्होन सकड़ों को सख्या में निबंध लिखे। शैलीकार के रूप में पं० प्रताप-नारायण मिश्र उस युग के अन्यतम लेखक हैं। उनके निबंधों में जो मस्ती, जिन्दा-दिली और मुहावरेदारी मिलती है वह अन्य किसी लेखक में इतनी नहीं है। बालकृष्ण भट्ट भी प्रयाग से हिंदी-प्रदीप नामक एक पत्र निकालते थे। उन्होंने दो उपन्यास और अनेक निबंध लिखे। इन्होंने परिचयात्मक और गम्भीर विचारात्मक दोनों ही प्रकार के निबंध लिखे हैं। भाषा की दृष्टि से इनमें भी मुहावरे अधिक हैं और उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों का भी इन्होंने निस्संकोच प्रयोग किया है। श्री निवासदास ने परीक्षागुरु नामक उपन्यास लिखा जो हिन्दी का प्रथम उपन्यास माना जाता है। इन्होंने रणधीर प्रेममोहिनी और संयोगिता हरण नामक नाटकों की भी रचना की। ठा० जगमोहनसिंह भारतेन्दु के मित्रों में से थे और उन्होंने 'श्यामास्वप्न' नामक एक भावात्मक उपन्यास लिखा जो बाणभट्ट की कादम्बरी की शैली में प्राकृतिक दृश्यों के वर्णनों की बहुलता के साथ लिखा गया है। भारतेन्दु-युग के अन्य गद्य-ग्रन्थों में बाबू तोताराम कृत 'कीर्तिकेतु' नाटक, केशवराम भट्ट कृत सज्जाद-संबुल और शमशाद-सोसम नामक नाटक राधाचरण गोस्वामी कृत सती चन्द्रावली, अमरसिंह राठौर और सुदामा नाटक, राधाकृष्णदास कृत महाराणा प्रताप नाटक और

निस्सहाय हिन्दू उपन्यास विशेष उल्लेखनीय हैं। बाबू देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी और किशोरीलाल गोस्वामी के कई उपन्यास भारतेन्दु युग में ही लिखे जा चुके थे. किन्तु इनकी अधिक प्रसिद्ध रचनायें १९०० ई० के बाद द्विवेदी-युग में लिखी गयीं अतः उनकी चर्चा बाद में की जायगी।

भारतेन्दु युग के समाप्त होते-होते हिन्दी गद्य पूर्णतः स्थापित हो चुका था. उसका रूपाकार भी निर्मित हो चला था, किन्तु अभी वह परिनिश्चित नहीं हो सका था अर्थात् उसके व्याकरण सम्बन्धी नियमों और शब्द-प्रयोगों में एक रूपता नहीं आ सकी थी यह कार्य बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में हुआ। हिन्दी-गद्य का रूप निश्चित करने और भाषा सम्बन्धी विविध प्रकार के दोषों और भूलों को दूर करने का सर्वाधिक श्रेय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को है जो 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से कई वर्षों तक हिन्दी-गद्य के उन्नयन के आन्दोलन का नेतृत्व करते रहे। द्विवेदी जी ने दो महत्वपूर्ण कार्य किये; हिन्दी-गद्य का परिमार्जित और विचारानुकूल गम्भीर या सरल रूप प्रदान करने का कार्य और विविध विषयों पर स्वयं साहित्य-रचना करके और दूसरों से कराकर हिन्दी गद्य साहित्य के भण्डार को भरने का कार्य न जाने कितने लोगों को द्विवेदी जी ने लेखक बना दिया। उन्होंने हिन्दी गद्य को अँग्रेजी, बँगला और मराठी गद्य के समकक्ष पहुँचा कर तथा उसमें सामयिक और पुरातन समस्याओं और प्रश्नों से सम्बन्धित विचार व्यक्त करने की क्षमता उत्पन्न कर हिन्दी की अनन्य सेवा की। उन्होंने किरातार्जुनीय, हिन्दी महाभारत रघुवंश, मेघदूत, आदि ग्रन्थ संस्कृत ग्रंथों के आधार पर लिखे और नाट्यशास्त्र हिन्दी भाषा की उत्पत्ति कालिदास की निरंकुशता, नैषधचरित चर्चा- विक्रमांकदेव-चरित चर्चा, हिन्दी कालिदास की समालोचना आदि व्यंग्यात्मक शैली के स्वतंत्र आलोचनात्मक ग्रंथों की रचना की। उनके लेखों और

निबंध के कई संग्रह हैं जैसे—आलोचनांजलि, सुकवि संकीर्तन, रसज्ञ-रंजन, लेखांजलि, साहित्य-सीकर पुरातत्व प्रसंग आदि।

द्विवेदी-युग में हिन्दी-गद्य के अनेक ऐसे निर्माता हुए जिन्होंने गद्य की विधाओं में एक एक को लेकर उसका चरम उन्नयन किया। इतिहास और आलोचना का कार्य मिश्र-बन्धुओं ने प्रारम्भ किया। उन्होने हिन्दी नवरत्न और मिश्र-बन्धु विनोद नामक ग्रन्थों की रचना की लाला भगवानदीन और पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी सतसई की विद्वत्तापूर्ण समीक्षा की। बाबू श्यामसुन्दर दास ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के माध्यम से हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों के शोध के साथ-साथ उच्च कक्षाओं के लिए सैद्धान्तिक समीक्षा भाषाविज्ञान और साहित्य के इतिहास के ग्रंथ लिखन-लिखाने का कार्य किया। उनके ग्रन्थ- साहित्यालोचन हिन्दी भाषा का इतिहास, हिन्दी साहित्य का इतिहास, रूपक रहस्य और भाषा विज्ञान अपने-अपने विषय के प्रथम महत्वपूर्ण ग्रंथ है। हिन्दी निबन्ध और हिन्दी आलोचना को उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँचाने वाले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी द्विवेदी युग में ही हुए। उनका लिखा हिन्दी साहित्य का इतिहास' हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ इतिहास ग्रंथ है। उनके निबंध आधुनिक मनोविज्ञान और भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य के गहन अध्ययन और मनन के पश्चात् लिखे गये हैं और इसी कारण विचार-गाम्भीर्य, संक्षिप्त, सुशृँखलता. और संघटन जितना शुक्ल जी के निबन्धों में मिलता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। उनके निबन्धों का संग्रह विचारवीथी और चिन्तामणि (दो भाग) हैं। समीक्षा के क्षेत्र में भी शुक्ल जी बेजोड़ हैं। काव्य मे रहस्यवाद, रस-मीमांसा तुलसीदास, सूरदास और जायसी ग्रंथावली की भूमिका उनके समीक्षा-ग्रन्थ हैं जिनमें उनकी अद्भुत प्रतिभा. तर्क शक्ति और सूझ बूझ के दर्शन होते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि

शुक्ल जी की रचनाओं में उनका पाण्डित्यपूर्ण निराला व्यक्तित्व सर्वत्र स्पष्ट झलकता रहता है।

द्विवेदी-युग में कई ऐसे गद्य लेखक हुए जिनकी प्रतिभा का विकास आगे चलकर छायावाद-युग मे हुआ इनमे से उपन्यासकार और कहानीकार प्रेमचन्द और नाटककार जयशंकर प्रसाद अग्रगण्य हैं। प्रेमचन्द के पूर्व हिन्दी में जो उपन्यास लिखे जाते थे वे अधिकतर घटना-प्रधान और जासूसी होते थे। देवकीनंन्दन खत्री, किशोरी लाल गोस्वामी और गोपाल राम गहमरी इस प्रकार के सैकड़ों उपन्यास लिख चुके थे किन्तु प्रेमचन्द जी पहले उपन्यासकार हुए जिन्होंने चरित-चित्रण को उपन्यास का मेरुदण्ड मानकर और सामयिक जीवन की यथार्थ समस्याओं को लेकर उपन्यासों और कहानियों की रचना की। उनपर राष्ट्रीयता और गाँधीवादी विचार धारा का गहरा प्रभाव था और अपनी परवर्ती रचनाओं में वे उत्तरोत्तर गरीब शोषित जनता के पक्षधर होते गये। उनके उपन्यासों में रंगभूमि, गबन, सेवासदन, प्रेमाश्रम, कायाकल्प, गोदान और कर्मभूमि प्रमुख है। मानसरोवर उनकी कहानियों का संकलन है। उर्दू का लेखक होने तथा ग्रामीण जनता से निकट सम्पर्क के कारण उनकी भाषा बहुत ही चलती हुई मुहावरेदार और सरल है। पात्रों के अनुरूप कथोपकथन लिखने में वे सिद्धहस्त थे। जिस तरह प्रेमचन्द कथा-साहित्य के सम्राट माने जाते हैं उसी तरह नाटकों की रचना करने वालों में शीर्षस्थ स्थान जयशंकर प्रसाद को मिला है। यद्यपि प्रसाद जी ने कंकाल, तितली और इरावती नामक उपन्यासों और अनेक कहानियों की भी रचना की थी और कई आलोचनात्मक निबन्ध भी लिखे थे किन्तु उनकी ख्याति का मुख्य आधार उनके नाटक ही हैं। यदि प्रेमचन्द के साहित्य में राजनीतिक राष्ट्रीयता प्रमुख है तो प्रसादजीका गद्य-साहित्य सांस्कृतिक चेतना से उद्भूत राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत है। उन्होंने भारतीय इतिहास और संस्कृति के उन अमर

रत्नों और गौरवपूर्ण घटनाओं को अपने नाटकों का विषय बनाया है जिनके सम्बन्ध में सामान्य भारतीय जनता को अधिक जानकारी नहीं थी। आधुनिक जीवन के सन्दर्भ में प्राचीन समस्याओं और आदर्शों को उपस्थित करके उन्होंने अपने देश की सांस्कृतिक चेतना को जाग्रत और पुष्ट करने का सफल प्रयास किया है। उनके नाटकों में जनमेजय का नागयज्ञ, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, राज्यश्री, कामना और एक घूँट प्रमुख हैं। विषय के अनुरूप ही अनेक नाटकों की भाषा संस्कृत गर्भित और शैली उदात्त तथा गरिमामयी है। नाटक ही नहीं, उनके उपन्यास और कहानियाँ भी काव्यात्मक शैली में लिखी गयी हैं। रसात्मक गद्य लिखने में प्रसाद जो आधुनिक युग के लेखकों में अन्यतम हैं।

प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास को जो नया मार्ग दिखलाया उसपर चलनेवाले कई लेखक हुए जिनमे विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक" "सुदर्शन" "प्रतापनारायणश्रीवास्तव" "चतुरसेन शास्त्री" आदि प्रमुख थे। वृन्दावनलाल वर्मा ने अनेक ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की जिनमें विराटा की पद्मिनी, गढ़-कुण्डार, झाँसी की रानी, मृगनयनी आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। हिन्दी उपन्यास को प्रेमचन्दजी के मार्ग से अलग हटकर नयी दिशा में ले जानेवाले कई उपन्यासकार छायावाद युग में हुए जिनमें जैनेन्द्रकुमार, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क और अज्ञेय विशेष उल्लेखनीय हैं इन लेखकों ने मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषणात्मक ढंग पर अपने पात्रों का चरित्राङ्कन किया है. प्राचीन इतिहास और संस्कृति को आधार बनाकर उपन्यास लिखनेवालों मेंराहुल सांकृत्यायन और हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रमुख हैं· राहुल जी क जय यौधेय और सिंहसेनापति उपन्यास तथा बोल्गा से गंगा नामक कहानी संग्रह और हजारीप्रसाद द्विवेदी का बाणभट्ट की आत्मकथा नामक उपन्यास इस प्रकार की सर्वोत्कृष्ट रचनायें हैं। वर्तमान नये उपन्यासकारों

में फणीश्वर नाथ रेणु, लक्ष्मीनारायण लाल, भैरवप्रसाद गुप्त, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

नाटकों की दशा में प्रसाद जी ने जो कार्य किया, दुर्भाग्यवश वह आगे बढ़ नहीं सका। प्रसाद जी के कुछ दिनों बाद ही हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट और जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द ने भी ऐतिहासिक नाटक लिखना प्रारम्भ किया। इन लोगों ने विशेष रूप से मध्यकालीन इतिहास से अपने नाटकों की सामग्री ग्रहण की प्रेमीजी के नाटक रंग-मंच पर अभिनेय अवश्य हैं किन्तु उनमें प्रसाद जी के नाटकों जैसी गम्भीरता और काव्यात्मकता नहीं है इनके नाटकों में "रक्षाबन्धन" 'शिवासाधना' "प्रतिशोध" "आहुति" और जौहर" प्रमुख हैं। मिलिन्द जी का नाटक 'प्रताप प्रतिज्ञा' बहुत ही सुसंघटित और अभिनेय है। अन्य नाटककारों में सेठ गोविन्ददास लक्ष्मीनारायण मिश्र और वृन्दावनलाल वर्मा का नाम विशेष उल्लेखनीय है! सेठ गोविन्ददास ने दर्जनों नाटक लिखे हैं किन्तु उनमें नाटककार के व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य नहीं दिखाई पड़ता। हिन्दी में एकांकी नाटकों का प्रचलन भी आधुनिक युग की देन है। एकांकी नाटककार विशेष रूप से छायावाद युग में हुए रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, पृथ्वीनाथ शर्मा, गिरजाकुमार माथुर, भगवती चरण वर्मा, भुवनेश्वर आदि हिन्दी के प्रमुख एकांकी नाटककार हैं।

हिन्दी-निबन्ध का जितना विकास भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग में हुआ उतना छायावाद-युग में नहीं हो सका। द्विवेदी-युग में रामचन्द्र शुक्ल के अतिरिक्त माधवप्रसाद मिश्र' गुलाब राय, अध्यापक पूर्णसिंह, पदुमलाल पन्नालाल बख्शी, और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी बहुत अच्छे निबंधकार हुए। इन लोगों ने अधिकतर ललित निबंधों की रचना की है जिनमें उनके व्यक्तित्व की विचित्रता स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। छायावाद-युग में व्यक्तिव्यंजक निबंधों की जगह विचा-

रात्मक निबंधों की रचना अधिक होने लगी। इस युग के निबंधकारों में जयशंकरप्रसाद, शांतिप्रिय द्विवेदी, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, राजकुमार वर्मा, महादेवी वर्मा, हजारा प्रसाद द्विवेदी, नंददुलारे वाज-पेयी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि प्रमुख हैं। ये निबंधकार या तो कवि हैं या आलोचक है। इस कारण उनके निबंध या तो बिलकुल भावात्मक हैं या बिलकुल विचारात्मक और व्यंग्यात्मक भावात्मक निबंधकारों में शांतिप्रिय द्विवेदा, महादेवी वर्मा और महाराजकुमार रघुवीर सिंह, अपनी विशिष्टता के कारण विशेष विख्यात हैं। इनमें विचारवैभव के साथ-साथ काव्यात्मकता भी पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ती है! अध्यापक पूर्णसिंह ने जिस भावात्मक शैली के निबंधों को प्रारंभ किया था उसकी परिणति महादेवी वर्मा के निबंधों में हुई है। इस युग के सर्वोत्कृष्ट व्यक्तिव्यंजक निबन्धकार हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं। इनके निबन्धों में सांस्कृतिक चेतना और ऐतिहासिक भूमिक के साथ-साथ आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अद्भुत समन्वय दिखलायी पड़ता है। डा० धीरेन्द्र वर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के निबंध आलोचनात्मक हैं और उनमें विचार गांभीर्य तथा बुद्धि-वैभव का पूर्ण प्रस्फुटन हुआ है।

आलोचना के क्षेत्र में भा रामचन्द्रशुक्ल के बाद कोई बहुत उल्लेखनीय विकास नहीं हुआ शुक्लजी के समकालीन लेखक गुलाब-राय, धीरेन्द अर्मा, शांतिप्रय द्विवेदी और लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने अवश्य इस क्षेत्र में कुछ उल्लेखनीय कार्य किया। शुक्ल जी की आलो-चनात्मक परम्परा को आगे बढ़ानेवालों में नंददुलारे वाजपेयी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० नगेंद्र और चंद्रबली पांडेय हैं। इन लोगों ने साहित्य के सैद्धांतिक पक्षों की विवेचना के साथ-साथ मौलिक ढंग से व्यावहारिक आलोचना भी लिखी है। विश्वविद्यालयों में होनेवाले शोध-

कार्य के परिणाम स्वरूप विगत ३० वर्षों में सैकड़ों वृहत्काय शोध-ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं जिनमें से कुछ में उत्कृष्ट आलोचना के भी दर्शन होते हैं हिन्दी के शोध ग्रंथ लिखने वालों में पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, केशरीनारायण शुक्ल, माताप्रसाद गुप्त, उदयनारायण तिवारी, ब्रजेश्वर वर्मा, सोमनाथ गुप्त आदि प्रमुख हैं । सम्प्रति शोध-ग्रन्थ ही आलोचना के ऊपर हावी होते जा रहे हैं, यह हिंदी आलोचना के लिए बहुत बड़ा खतरा है ।

हिंदी के उपन्यास, नाटक, कहानी, एकांकी निबन्ध और आलोचना की जो संक्षिप्त समीक्षा ऊपर दी गयी है उससे हिंदीगद्य की उक्त विधाओं पर कुछ परिचयात्मक प्रकाश अवश्य पड़ा होगा । इसके अतिरिक्त संस्मरण, रेखाचित्र जीवनी, आत्मकथा, गद्य-गीत और यात्रावर्णन हिंदी में पर्याप्त लिखे गये हैं । छायावाद-युग में रायकृष्णदास और वियोगी हरि ने गद्य गीतों का प्रारम्भ किया था । वर्तमान युग में दिनेश नन्दिनी चोरड्या के गद्य गीतों के कई संकलन निकले । किंतु गद्य-गीत लिखने की प्रथा अब समाप्तप्राय: सी है संस्मरण लिखने में मोहनलाल महतो वियोगी और महादेवी वर्मा के नाम विशेष उल्लेखनीय है । रेखाचित्र हिंदी में बहुत कम लिखे गये हैं । केवल प्रकाशचन्द्र गुप्त ने कुछ रेखाचित्र लिखे हैं । यात्रा-वर्णन लिखने में राहुल सांकृत्यायन, अज्ञेय और भगवतशरण उपाध्याय अग्रगण्य हैं । जीवनी और आत्मकथा के क्षेत्र में भी अधिक कार्य नहीं हुआ है । डा० राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी जीवन-कथा हिंदी में लिखी है । हिंदी के साहित्यिकों में श्याम-सुन्दर दास, वियोगी हरि और राहुल सांकृत्यायन ने अपनी आत्मकथाएँ साहित्यिक शैली में लिखी हैं । इस प्रकार हिंदी-गद्य के प्रायः सभी अंग अब सम्पन्न हो चले हैं । यद्यपि अभी हिंदी गद्य का विकास पाश्चात्य भाषाओं के गद्य-साहित्य की तुलना में बहुत ही कम प्रतीत होत है फिर भी हमें इसबात का संतोष होनाचाहिए कि हिंदी-गद्य का इतिहास

बहुत पुराना नहीं है और केवल १००० वर्षों में इतना विकास कम नहीं माना जा सकता। देश की स्वतंत्रता के उपरांत हिंदी-गद्य का भविष्य भी अत्यत उज्ज्वल हो गया है। अब हिंदी के साहित्यिकों और लेखकों पर इस बात का दायित्व है कि वे हिंदी-गद्य को सर्वाङ्गपूर्ण बना कर विश्व की अन्य भाषाओं की तुलना में उसे प्रतिष्ठित करें।

—शम्भुनाथ सिंह

— —— ——

देशोन्नति

प्रताप नारायण मिश्र

मुसलमानों के आने से पहले हमारे देश में मुक्ति ऐसी सस्ती थी कि बे-परिश्रम जो चाहे लूट ले। वही मुक्ति जिसके लिए बड़े बड़े ऋषिश्वर जन्म भर वनों में तपस्या करते-करते मर जाते थे, वही मुक्ति जगन्नाथजी के मन्दिर (जहाँ दिवारों पर ऐसी निर्लज्ज मूर्तियाँ बनी हैं कि होली के कवीरों को मात कर दें) में ही आने मात्र से मिल जाती थी। इसकी भी सामर्थ्य न हो तो 'गंगेत्वद्दर्शनात्मुक्ति'। इसमें भी जी अलसाये तो किसी मत का दस-पाँच श्लोक वाला स्तोत्र पढ़ डालो, बस 'मुक्तिर्भवति वै ध्रुवम्'। यह भी न सही तो 'वारक नाम लेत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ।' खैर इन बातों से किसी की कुछ हानि नहीं होती; पर यार लोगों ने हद्द कर दी कि 'मद्यम्मांसत्स्यश्चमश्च मुद्रा मैथुनमेव च' तक को मुक्ति का साधन लिख मारा। कहाँ तक कहें, ऐसा किसी चाल-चलन का कोई पुरुष न था जो कहीं न कहीं, किसी न किसी महात्मा के वचनानुसार मुक्ति का भागी न हो। हमारा प्रयोजन किसी मत पर आक्षेप करने से नहीं है। क्या जाने किसी ने अपने चेलों या लड़कों को चिट्ठी भेजी हो कि "मैं गयावालजी की कृपा से या भैरव-स्तोत्र के फल से मुक्त हो गया; यहाँ सत्यलोक में आनन्द से हूँ।' पर हमारी समझ में नहीं आता। क्योंकि शास्त्र देखने तथा विचार करने से यही सिद्ध होता है कि मुक्ति का परम साधन दुष्कर्म का त्याग

वि. और परमेश्वर में सच्चा प्रेम है और मुक्ति का लक्षण सब दुखों से छूट जाना है। यदि शास्त्र सच्चा है तो इन ऊपर लिखे उपायों को शेखचिल्ली की बातों के सिवा क्या कहा जाय?

ठीक मुक्ति ही की-सी दशा आजकल देशोन्नति की देख पड़ती है। घर में देखो तो जो लाला कहें 'अरे तीन बजे से गङ्गा न्हाण क्यूँ जाय हैं,' तो ललाइन आपे से बाहर हो के उत्तर दें 'मैं अपना सिर फोड मरूँगी, देखो तो, धरम करम में रोकै है' इधर पण्डितजी आज्ञा करें 'कुछ पढ़ा करो' तो पण्डताइन 'खाँय फेकरों' करके कहें 'काहे के अनिष्ट च्याहत हो, बैलायगे हो का? कतौं मेहरियों पढ़त हैं?' हमें ऐसे देशोन्नत्यभिलाषियो पर आश्चर्य आता है कि अपने घर की उन्नति किस बिरते पर किया चाहते हैं? बहुतेरे बाबू लोगों की दशा प्रतिदिन देखने में आती है कि परमेश्वर की दया से बुड्ढे होने आए हैं पर यह ज्ञान नहीं है कि किससे कैसे बर्तना चाहिए। विद्या तो दूर रही, बातचीत का यह हाल है कि जो अशुद्ध-फशुद्ध दो-चार शब्द अपनी भाषा के बोलेंगे तो बीस बड़े-बड़े कणकटु अलफाज अरबी-अङ्गरेजी के अपनी लियाकत दिखाने को, उसमें घुसेड़ लेगें। बुद्धि की यह दशा है कि केवल नागरी जाननेवाले ग्रामीण भाइयों के साथ बोलने में अपने को शेखसादी अथवा शेक्सपियर का नाती जाहिर करेंगे। स्वभाव जैसा बीस बरस पहिले था वैसा ही अद्यपि वर्तमान है। गांजा भांग का प्रण सध्योपासन से अधिक निबाहेंगे, लावनीबाजों के फटके पर बड़े प्रेमसे हँस-हँस के खड़े-खड़े धक्का खाते हुए घटों सुना करेंगे, अपनी हिस्ट्रीदानी दिखावेंगे तो ऐसी कविता करेंगे (रूसी हैं मुच्छ जिनकी सवा सवा हाथ की मुच्छ) सँपेड़े के नाच मे रात भर खड़े रहेंगे, शतरञ्ज में दो दो पहर गवां देंगे, दिवाली में आठ-आठ दिन कर्ज काढ़ के सोरही में आठो पहर मगन रहेंगे, होली में मित्रों पर एक पैसे का रंग छिड़कने के समय सभ्यता की आड़ में जा छिपेंगे, पर दिन को कबीरों और रात को भांड़ों की महफिल में बैठे हैं; हा हा हा हो हो हो करने में बीर बन

जायेंगे। आप दूसरों को बेवकूफ बेईमान, पोप बनावेंगे पर दूसरा कुछ कहे तो अपने टटेर ऐसे हाथ-पावों की ओर न देखकर लड़ने को तैयार हो जायेंगे। किसी की कोई वस्तु माँग लावेंगे तो हजम कर रक्खेंगे या वरसों में अस्त व्यस्त करके सत्रह कोने का मुँह बनाकर फेरेंगे। अपनी चीज मांगने पर जिसे परम मित्र कहेंगे उससे भी झूठे बे-सिर पैर के सो वहाने गढ़ेंगे। कहाँ तक कहें, जितनी सत्यनाशी बातें हैं सब करेंगे पर देशोन्नति देशोन्नति चिल्लाते फिरेंगे। इन पाँचवें सवारों से कोई पूछे कि कुछ अपनी उन्नति भी की है कि देशोन्नति ही पर मरे जाते हो?

इसका एकमात्र परम साधन क्या है? इस विषय में आजकल 'जे मुँह तै बातें' हो रही हैं कोई कहता है धर्म-धर्म चिल्लाये जाओ, देशोन्नति हो जायगी। कोई समझे है, धुनके बिना देशोन्नति कैसी? विलायतयात्रा, यंत्र-निर्माण, महत्कार्यालय-स्थापन करनादि के बिना क्या होना है? किसी का सिद्धान्त है कि बल के विना देशोन्नति असंभव है। बाल्य-विवाह उठे बिना, विधवा-विवाह हुए बिना त्रिकाल में कुछ नहीं होना। किसी का मत है 'विद्या विहीनः पशुः'। 'दूर के देश जाके विद्या पढ़ो, बड़ी-बड़ी पाठशाला स्थापित करो' इत्यादि इत्यादि यही देशोन्नति के मूल हैं। पर हमारी समझ में और प्रत्येक सुहृदय पुरुष के विचार में देशोन्नति तो बड़ी वात है सचमुच आत्मोन्नति तथा गृहोन्नति भी इन ऊपर वाली बातों से होनी कठिन है। हाँ; उन्नत अवस्था में यह धर्मादिक सर्व बातें सहज साध्य होकर, शाखा-प्रशाखा एवं हस्तपादादिक की भाँति उन्नति के चिह्न मात्र तो वन जाती हैं पर उन्नति का मूल, उन्नति की जीवनास्ति दशा और प्रलयङ्गतावस्था में उन्नति का सृजक तथा पुनः प्रकाशक केवल प्रेम है। प्रेम के विना कभी, कहीं किसी प्रकार, किसी की उन्नति न हुई है, न होगी, न होती है। प्यारे देशोन्नत्याभिलाषीगण! यह न कहना कि अच्छी, सबसे निराली तान अलाप रहे हैं। नहीं, रामायण खोल के देखिये, भगवान् रामचन्द्रजी दण्ड-

कारण्य कोई सेना लेकर न गये थे। सीता वियोगजनित दुःख के कारण बुद्धि भी कदाचित् ठिकाने न हो (देहधारी मात्र को घोर दुःख में विद्या भूल-सी जाती है, बुद्धि ठिकाने नहीं रहती) बाह्य धर्म के निर्वाह की सम्भावना नहीं है क्योंकि मार्ग 'शूद्रवदाचरेत' नीति में लिखा है पर हाँ, वह प्रेम शक्ति ही थी जिसके बल से हमारे उस पूज्यपाद ने निरे बनचरों को अपना बना लिया। रावण ऐसे शत्रुपर विजयी होकर पुनः साम्राज्यश्री को हस्तगत किया। इधर महाभारत का अवलोकन कीजिये। एक-से-एक धर्म तत्वज्ञ, एक से एक महारथी योद्धा, एक से एक राज-राजेन्द्र, केवल भ्रातृस्नेह के बिना, बाहरवाला कोई न मिला तो, आपस ही में ऐसे कट मरे कि आर्यावर्त्त का बँटाढार कर दिया। हास्यास्पद वह पुरुष है जो वृक्ष के मूल का सेवन न करके डाल-डाल, पत्ती-पत्ती में जल छोड़ता फिरता है। भला वह पुष्ट होगा कि और सड़ जायगा? क्या प्रेम के बिना धर्मधनादिक कभी हो सकते हैं? यदि हो भी गये तो स्थित उनकी कै दिन? न जाने लोग मुख्य तत्व की ओर क्यों नहीं ध्यान देते, नहीं तो धर्म धन बल विद्यादि प्रेम के बिना हैं ही क्या? शास्त्र में लिखा है-'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।' वह अभ्युदय कब होगा? तभी न जब पंडित महाराज की विद्या, ठाकुर साहबका बल, लालाजीके रुपये, महतोभाई के हाथ पाँव परस्पर एक दूसरे के कार्य साधन करेंगे? चारोएकत्रित कब होंगे जब सबके अंतःकरण प्रेमसे पूर्ण हो जायँगे नहीं तो सब बात तो सब किसी को प्राप्त होती ही नहीं हैं। वह अपनी पोथी चाट लिया करें वह अपनी अशरफी गला के पी जाया करें। किसान तो तुच्छ जीव है, उसका उठाया अन्न वे पृथ्वी के शिरोमणि कैसे खायेंगे? उसकी भी बला से, उसने अपने परिश्रमसे जोता-बोया है तुमको क्या? ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे सिद्ध है कि सांसारिक अभ्युदय, क्या जीवन-यात्रा भी प्रेम के बिना असंभव है। रही निःश्रेयस-सिद्धि, सो उसके लिये भी सब ओर से चित्तवृत्ति एकत्र होकर ईश्वर में लगाना भी प्रेम ही है। यदि पोथियों का सच्चा मानो तो मरणान्तर जीवात्मा का ईश्वर में मिल जाना भी प्रेम

ही है। सारांश यह कि यदि 'यतो ऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' है तो प्रत्येक देशोन्नतिकारक को मान ही लेना पड़ेगा कि 'प्रेम एव परोपधर्मः।' अब कहो आस्तिकजी! जिसने परम धर्म का त्याग किया उसको भी सुख मिलना कहीं लिखा है? अधर्मी का भी मनोरथ कभी सिद्ध होता है? धन के लिये लाख सिर पटका करो, अकेले विलायत जाओगे भूखों के मारे रमाबाई की दशा होगी वह वहाँ जाके ईसाई हो गई। अकेले कारखाना खोलोगे (किसी की सहायता न लेना) घर फूँक तमाशा देखोगे। फिर क्या देशोन्नति होगी विद्या के लिये गुरुजी से प्रीति न करना, चौदहो विद्या आ जायगी। बल के लिये अखाड़ेवालों से जली-कटी कहना, सब कसरतें सीख जाओगे। बिरादरीवालों को स्नेह समझाने की क्या आवश्यकता? संतान युवा हों पूर्णोन्नत जाति में व्याह देना। देशोन्नति तो घर की लौंडी है। कहने की सौ बातें हैं पर समझे रहो कि "करनी सार है कथनी खुआर है।" बड़ी बड़ी सभा, बड़े-बड़े लेक्चर, बड़े-बड़े मनोरथों से कुछ न होगा सब बातों की उन्नति कुछ करने से ही होगी, और करना धरना सामर्थ्य से अधिक हो नहीं सकता। फिर कहिये तो कौन-सी सामर्थ्य एतद्देशियों में रह गई है जो हमारे सह-व्यसनी महोदय बड़े-बड़े बाँधान बाँधा करते हैं? महापरिश्रम करने पर भी यह सम्भव नहीं है कि सर्व-साधारण में कभी पूर्ण रीति से विद्यादि सब सद्गुण एक साथ हो सकें, और यदि किसी में कोई योग्यता हुई भी तो उसका ठीक वर्ताव न हो सकेगा। देखो, राजर्षि भर्तृहरिजी क्या कहते हैं "विद्या विवादाय धनम्मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय। खलस्य साधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥' साधु वही है जो धर्म साधन करे, और धर्म का लक्षण ऊपर वर्णित हो चुका है।

अब कौन कह सकता है कि सच्चा धर्मिष्ठ अर्थात् प्रेमी हुए बिना कोई अपनी विद्यादि से किसी का उपकार कर सकेगा। अतएव सबके पहिले प्रेम-शाखा विस्तृत करना चाहिये। उसके प्रभाव से सब सुख-साधिनी बातें स्वतः हाथ आ जायँगी। नहीं तो सब कोई जानता

है कि "कलि में केवल नाम आधारी।" एक माला लेके देशोन्नति देशोन्नति रटा करो जैसे सब मतवाले 'दुःखेच सुखमानिनः' हो रहे हैं वैसे देश हितैषी भी अपना अमूल्य समय खोया करें। आश्चर्य नहीं कि हमारे बहुत से प्रिय पाठक चौकन्ने हुए हों कि कहाँ तो अभी उन्नति का मूल प्रेम को कहते थे, कहाँ सब मतावलम्बियों पर कह बैठे। इस असम्बद्ध प्रलाप से क्या है? महाशय, देशोन्नति का बड़ा भारी बाधक तो मत ही है जब तक उसका भ्रम जाल लगा है तब तक सुख स्वरूप प्रेम देव से भेंट कहां! किसी मत का अगुवा कब चाहेगा कि मेरे अतिरिक्त दूसरे की बात जमे। कौन न चाहता होगा कि मनुष्य मात्र मेरे चेले होकर अंधी भेंड़ की भाँति मेरे पीछे हो लें! कौन दूसरे मत के लोगों की निंदा नहीं करता। कब कहाँ कौन अपने साथियों को छोड़ दूसरों की किसी प्रकार की बढ़ती देख सकता है? क्या इन लक्षणों से किसी देशी भाई के हित की आशा हो सकती है? सच तो यों है मत शब्द का अर्थ ही 'नेस्ती व मनहूसी' का वाचक है, इसमें क्या तत्व? यद्यपि सभी मतमतांतर के ग्रन्थों में लोगों के फुसलाने के लिये थोड़े से बुद्धिमानों के सिद्धान्त, जैसे ईश्वर की भक्ति, जीव पर दया, सहवासियों से प्रीति, सत्य भाषणादि सत्कर्मों का सेवन, चोरी आदि का त्याग इत्यादि इत्यादि तो लिखे हुए पाए जाते हैं और वास्तव में यह माननीय हैं, पर इन्हीं के आगे-पीछे झूठे लालच के साथ थोड़ी-सी बेसर-पैर की अंड-बंड बातें ऐसी मिलाई गई है जिनके कारण विचारे सीधे-साधे विश्वासी, बुद्धि की आँखों में पट्टी बांध कर, तुच्छ तुच्छ विषयों के लिये, स्वदेशियों से जुतहाव किया करते हैं क्या ही अच्छी बात होती यदि हमारे आर्यसमाजी भ्रातृगण समझ लेते कि प्रतिमा पत्थर तो है ही हमें एक पत्थर के लिये सर्वदा मान्य देश-गुरू पण्डितों को पोप कहके चिढ़ाने तथा अनेक कामों में परस्पर सहायता करने के बदले उनको अपना बुरा बनाने की क्या पड़ी है?

ऐसे ही ब्राह्मण देवता विचार लेते कि मूर्ति तो साक्षात् ईश्वर की

प्रतिमा है, और ईश्वर न प्रशंसा से प्रसन्न होता है न निंदा से रुष्ट होता है। अथवा वह आप समझ लेगा, हमें क्या प्रयोजन है कि एक देवावलम्बी भव्य युवक-समाज को गाली दे देकर विरोध का मूलरोपण करो यद्यपि वेद, धर्म और ईश्वर का दोनों मानते हैं, देशोद्धार दोनों को अभीष्ट है पर प्रेमतत्व न जानने से, मत के आग्रह के मारे, गोस्वामी तुलसीदास जी के इस वचन का उदाहरण बन रहे हैं कि 'बातुल भूत बिबस मतवारे। ये नहिं बोलहिं वचन सम्हारे।' हम नहीं चाहते कि किसी मत विशेष के गुण-दोष दिखाकर इस लेख को आल्हा का पंवारा बनावें, पर इतना तो चिता देना चाहते हैं कि सिवा कोरी बकवाद के और सत्यनाश का मूल परस्पर विवाद के, मत से कोई आशा मत करो। इनमें कुछ भी सार होता तो क्यों दुष्ट विदेशी हमारी नाना जातना कर डालते और एक से एक उदरम्भर कान फूँकने वाले गुरु, एक से एक मारण मोहन कराने वाले ओझा, एक से एक प्रचण्ड चमुण्डा और भयानक भैरवादि, जिनके पीछे हम ईश्वर से विमुख, देश भाइयों से विमनस्क हो गए, कोई कुछ न कर सका। करता कौन? विपत्ति में तो एक धर्म ही सहायक होता है। उस धर्म को हमने धर्माभास से बदल डाला। प्रत्यक्ष से बढ़ के कौन प्रमाण है! यदि यह मत धर्म होते तो हमारी रक्षा न करते! अब देशोन्नत्यभिलाषी सज्जन समूह स्वयं विचार देखें कि यह धर्म मंतव्य है। पर हां, यह अपने ही हैं, अतएव सहवर्तियों को अधिक रुचि हो, उधर का सा अपना भी रंग-ढंग बना रहे, जिसमें कोई घृणा करके व्यर्थ में सामाजिक प्रेम पथ कर अवरोधक न बन जाय। पर अन्तःकरण से किसी मत का कट्टर कदापि न बनना चाहिए। क्योंकि जो सच्चे जी से स्वदेश का हित चाहते हैं उनका तो प्रेम पन्थ निराला ही है। उस धर्म के अनुष्ठान की विधि तो हमसे पूछो। सबसे पहले देशभक्त को चाहिए की दत्तचित होके अपनी उन्नति करे। उसके लिए मूलमंत्र तो बस यही है कि 'आलस्योहि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।' यह कोई दुःसाध्य बात नहीं है। केवल थोड़े दिन कुछ अड़चन सी तो जान

पड़ेगी पर कष्ट किंचित् भी न होगा जी वडा करके नित्य कृत्यों का समय नियत कर देने से सब हो जायगा। तदनतर हाथ पाव की भाँति विचार-शक्ति से भी काम लेते रहना चाहिए। इसके लिए भी केवल इतना ही कर्तव्य है कि प्रत्येक छोटे वड़े विषय में, जहाँ तक बुद्धि दौड़ सके, सोच लिया करें कि अमुक बात में जो यों होगा तो क्या होगा, बस। अपनी हानि लाभ कौन नहीं समझता। जिममें कुछ भी हानि देख पड़े उस काम को छोड़ दें। पर हाँ, ऐसा काम अवश्य करता रहे जिसमें अपने को वा पराए को अति कष्ट न हो और निर्वाह मात्र के लिए धन मिलता रहे तथाच किसी दशा में आय से अधिक व्यय न होने दे नामवर व अमीर बनने के लालच में न फँसे और ऐसा धन्धा न मुड़ियावे जिसमें दिन भर छुट्टी ही न मिलती हो। बारह घंटे दिन में जिसे न्यूनातिन्यून दो घण्टे भी अवकाश नहीं रहता उसे हम मनुष्य कहने में हिचकिचाते हैं। उस छुट्टी के समय संसारी झगड़ों को छोड़ ईश्वर का भजन तथा निर्दोष जी-वहलाव भी अवश्य ही चाहिए। निर्दोष मन बहलाव से हमारा प्रयोजन है, जिसमें धन बल और मान की हानि न हो। अनेक विषय की पुस्तकें विशेषत: कविता और नीति की, क्योंकि पहिली सहृदयत्व की जननी है दूसरी बुद्धिवर्द्धिनी है, देखना, वाटिका तथा मैदानों में घूमना, गाना-बजाना, उछलना-कूदना इत्यादि जिसमें अधिक रुचि हो करना, पर शारीरिक व्यायाम चाहे बिना रुचि भी हो, अवश्यमेव करना। कैसी ही दशा में चिन्ता को पास न फटकने देना चाहिए। सब प्रकार के, सब श्रेणी के, सब वय के, सब मत के लोगों की संगति करना पर उनके अनुगामी न हो जाना अपने शरीर, स्थान, वाणी, वस्त्र इत्यादि को ऐसा न रखना जिससे किसी को घृणा उत्पन्न हो। ऐसे-ऐसे और भी बहुत से काम हैं जो विचार शक्ति आप दिखा देगी, निरालसत्व और जिन्दादिली आप करा देगी। उनको करते रहने से, थोड़े से काल में, आत्मोन्नति अपनी इति तक पहुँच जायगी। रही गृहोन्नति, इसके लिए केवल इतना ही कर्तव्य रह जायगा कि अपने कुटुम्बियों, आश्रितों तथा

सहवासियों से ऐसे वर्ताव रखना जिसमें वे लज्जित, भयभीत, विरक्त न होने पावें। पर आप भी उनसे ऐसा न रहके मित्र भाव से रहना चाहिए जिसके साथ निष्कपट होके अपनापौ का व्यवहार किया जाता है वह कुछ दिन में निश्चय अपना हो जाता है। फिर जब तुमने उनको अपना अभिन्न हृदय बना लिया तो बस घर वाले एवं पड़ोसवाले, तुम्हारे सच्चे सहानुभावक, सच्चे सहायक, सच्चे आज्ञाकारी बन जायेंगे। स्मरण रहै कि आत्मोन्नति के नियम न टूटने पावें तो गृहोन्नति कुछ बहुत कठिन नहीं है। और जो इन दोनों की उन्नति में पूर्ण समर्थ है अकेला वही देशोन्नति के लिए कटिबद्ध हो सकता है और कृतकार्य हो सकता है क्योंकि हम कह चुके हैं कि प्रेम ही सब उन्नति का मूल है। जिसने अपनी देह एवं गेह से प्रेम कर लिया उसे अब प्रेम का अभ्यास हो गया और प्रेम का अभ्यासी अपने कार्य-सिद्धि में तथा दूसरों को अपने ढंग का बना लेने में पक्का होता ही है। जो दूसरों को अपना सा कर सकता है वह एक देश क्या जगत् को थोड़ी कठिनता से समुन्नति कर देगा।

एक दुराशा

बालमुकुन्द गुप्त

नारङ्गी के रस में जाफरानी बसन्ती बूटी छान कर शिवशम्भु शर्मा खटिया पर पड़े मौजों का आनन्द ले रहे थे। खयाली घोड़े की बाग ढीली कर दी थीं। वह मनमानी जकन्दे भर रहा था हाथ-पाँवों को भी स्वाधीनता दे दी गई थी वह खटिया के तूलअरज की मीमा उल्लंघन करके इधर-उधर निकल गये थे। कुछ देर इसी प्रकार शर्माजी का शरीर खटिमा पर था और खयाल दूसरी दुनिया में।

अचानक सक सुरीली गाने की आवाज ने चौंका दिया। कनरसिया शिवशम्भु खटिया पर उठ बैठे कान लगाकर सुनने लगे। कानों में वह मधुर गीत बार-बार अमृत ढालने लगा।

"चलो चलो आज खेलें होली कन्हैया घर "

कमरे से निकल कर बरामदे में खड़े हुए मालुम हुआ पड़ोस में किसी अमीर के यहाँ गाने-बजाने की महफिल हो रही है। कोई सुरीली लय से उक्त होली गा रही है साथ ही देखा, बादल घिरे हुए हैं, बिजली चमक रही है, रिमझिम झड़ी लगी हुई है। बसन्त में सावन देखकर अक्ल जरा चक्कर में पड़ी विचारने लगे कि गानेवाले को मलार गाना चाहिए था न कि होली साथ ही खयाल आया कि फागुन सुदी है, बसन्त के विकास का समय है वह होली क्यों न गावे ? इसमें तो गाने वाले की नहीं, विधि की भूल है, जिसने बसन्त में सावन बना दिया है। कहाँ तो चाँदनी छिटकी होती, निर्मल वायु बहती

कोयल की कूक सुनाई देती, कहाँ भादों की-सी अँधियारी है, वर्षा की झड़ी लगी हुई है ओह, कैसा ऋतुविपर्यय है ?

इस विचार को छोड़कर गीत के अर्थ का विचार जी में आया। होली खिलैया कहते हैं कि चलो आज कन्हैया के घर होली खेलगे। कन्हैया कौन ? ब्रज के राजकुमार और खेलने वाले कौन ? उनकी प्रजा ग्वालबाल। इस विचार ने शिवशम्भु शर्मा को और भी चौंका दिया कि एं, क्या भारत में ऐसा भी समय था जब प्रजा के लोग राजा के घर जाकर होली खेलते थे और राजा-प्रजा मिलकर आनन्द मनाते थे ? क्या इसी भारत में राजा लोग प्रजा के आनन्द को किसी समय अपना आनन्द समझते थे ! अच्छा यदि आज शिवशम्भु शर्मा अपने मित्र-वर्ग सहित, अबार-गुलाल की झलियाँ भरे रङ्ग की पिचकारियाँ लिये अपने राजा के घर होली खेलने जायं तो कहाँ जायं ? राजा दूर सात समुद्र पार है। राजा का केवल नाम सुना है। न राजा को शिवशम्भु ने देखा न राजा ने शिवशम्भु को। खैर राजा नहीं उसने अपना प्रतिनिधि भारत में भेजा है। कृष्ण द्वारका ही में है पर उद्धव को प्रतिनिधि बनाकर ब्रजबासियों को सन्तोष देने के लिए ब्रज में भेजा है क्या उस राज-प्रतिनिधि के घर जाकर शिवशम्भु होली नहीं खेल सकता ?

अफ ! यह विचार वैसा ही बेतुका है, जैसे अभी वर्षा में होली गाई जाती थी। पर इसमें गानेवाले का क्या दोष है, वह तो समय समझकर ही गा रहा था। यदि बसन्त में वर्षा की झडी लगे, तो गानेबाले को क्या मलार गाना चाहिए ? सचमुच बड़ी कठिन समस्या है कृष्ण हैं, उद्धव हैं पर ब्रजवासी उनके निकट भी नहीं फटकने पाते ; राजा है, राज-प्रतिनिधि है, पर प्रजा की उन तक रसाई नहीं। सूर्य है, धूप नहीं। चन्द्र है चाँदनी नहीं ? माईलार्ड नगर ही में है ? पर शिवशम्भु उनके द्वार तक नहीं फटक सकता है, उनके घर चलकर होली खेलना तो विचार ही दूसरा है, माईलार्ड के घर तक प्रजा की बात नहीं पहुँच

सकती। बात की हवा नहीं पहुँच सकती। जहाँगीर की भाँति उसने अपने शयनागार तक ऐसा कोई घण्टा नहीं लगाया जिसकी जंजीर बाहर से हिलाकर प्रजा अपनी फरयाद उसे सुना सके? न आगे को लगाने की आशा हैं। प्रजा की बोली वह नहीं समझता है न समझना चाहता है। उनके मन का भाव न प्रजा समझ सकती है, न समझने का कोई उपाय है। उसका दर्शन दुर्लभ है द्वितीया के चन्द्र की भाँति कभी-कभी बहुत देर तक नजर गड़ाने से उसका चन्द्रनन दिख जाता है तो दिख जाता है। लोग उँगलियों से इशारे करते हैं कि वह है किन्तु दूज के चाँद के उदय का भी एक समय है। लोग उसे जान सकते हैं। माईलार्ड के मुखचन्द्र के उदय के लिए कोई समय भी नियत नहीं। अच्छा, जिस प्रकार इस देश का निवासी माईलार्ड का चन्द्रानन देखने को टकटकी लगाये रहता है या जैसे शिवशम्भु शर्मा के जी में अपने देश के माईलार्ड को भी इस देश के लोगों की सुध आती होगी .क्यों कभी श्रीमान् का जी होता होगा कि अपनी प्रजा में जिसके दण्डमुण्ड के विधाता होकर आये है किसी एक आदमी से मिलकर उसके मन की बातें पूछें या कुछ आमोद-प्रमोद की बातें करके उसके मन को टटोलें! माईलार्ड को ड्यूटी का ध्यान दिलाना सूर्य को दीपक दिखाना है।

वह स्वयं श्रीमुख से कह चुके हैं कि ड्यूटी में बंधा हुआ मैं इस देश में फिर आया। यह देश मुझे बहुत ही प्यारा है! इसमें ड्यूटी और प्यार की बात श्रीमान् के कथन से ही तय हो जाती है उसमें किसी प्रकार की हुज्जत उठाने की जरूरत नहीं। तथापि यह प्रश्न आपसे आप जी में उठता है कि इस देश की प्रजा से माईलार्ड का निकट होना और प्रजा के लोगों की बात जानना उस ड्यूटी की सीमा तक पहुंचा है या नहीं यदि पहुँचा है, तो क्या श्रीमान् बता सकते कि अपने छः साल के लम्बे शासन में इस देश की प्रजा को क्या जाना और उससे क्या संबंध उत्पन्न किया? जो पहरेदार सिर पर फेटा बाँधे हाथ में संगीनदार बदूक लिये, काठ के पुतलों की भाँति गवर्नमेंट हाउस के द्वार पर दंडायमान

रहते हैं या छाया की मूर्ति की भाँति जरा इधर-उधर हिलते-डुलते दिखाई देते हैं कभी उनको भूले-भटके आपने पूछा कि कैसी गुजरती है? किसी काले प्यादे-चपरासी या खानामामा आदि से कभी आपने पूछा कि कैसे रहते हो? तुम्हारे देश की क्या चाल-ढाल है। तुम्हारे देश के लोग हमारे राज्य को कैसा समझते हैं? क्या इन नीचे दरजे के नौकर चाकरों को भी माइलार्ड के श्री मुख से निकलते हुए अमृतरूपी वचनों के सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ या खाली पेड़ों पर बैठी चिड़ियों का शब्द ही उनके कानों तक पहुँच कर रह गया। क्या कभी सैर-तमासों में टहलने के समय या किसी एकांत स्थान में इस देश के किसी आदमी से कुछ बातें करने का अवसर मिला। अथवा इस देश के लोगों के सच्चे विचार जानने की चेष्टा की अथवा कभी विदेश या रियासतों के दौरे में उन लोगों के सिवा जो झुककर लंबी सलामें करने आये हों, किसी सच्चे और बेपरवा आदमी से कुछ पूछने का कष्ट किया? सुनते हैं कि कलकत्ते में श्रीमान् ने कोना-कोना देख डाला है। भारत में क्या भीतर, क्या सीमाओं पर कोई जगह देखे बिना नहीं छोडी। बहुतों का ऐसा ही विचार था। पर कलकत्ता-यूनिवर्सिटी के परीक्षोतीर्ण छात्रों की सभा में चांसलर का जामा पहनकर माइलार्ड ने जो अभिज्ञता प्रकट की उनमें इस देश की बातें ठीक देखने की शक्ति न थी।

सारे भारत की बात जाय, इस कलकत्ते ही में देखने की इतनी बातें हैं कि केवल उनको भलीभांति देख लेने से भारतवर्ष की बहुत सी बातों का ज्ञान हो सकता है।

माइलार्ड के शासन के छ साल हालवेल के स्मारक में लाट बनवाने, ब्लैकहोल का पता लगाने, आक्टरलोनी की लाट को मैदान से उठवाकर यहाँ विक्टोरिया मेमोरियल हाल बनवाने, गवर्नमेंट हाउस के आसपास अच्छी रोशनी, अच्छे फुटपाथ और अच्छी सड़कों का प्रबन्ध कराने में बीत गये। दूसरा दौरा भी वैसे ही कामों में बीत रहा है। संभव है कि उसमें भी श्रीमान् के दिलपसंद अंग्रेजी मुहल्लों में कुछ और बड़ी-बड़ी पक्की

सड़के निकल जाये और गवर्नमेंट हाउस की तरफ के स्वर्ग की सीमा और बढ़जावे पर नगर जैसा अँधेरे में था वैसे ही रहा क्योंकि उसकी असली दशा देखने के लिए और ही प्रकार की आंखों की जरूरत है। जब तक वह आंखें न होंगी, यह अँधेर यों ही चलता जावेगा। यदि किसी दिन शिवशंभु शर्मा के साथ माइलार्ड नगर की दशा देखने चलते तो वह देखते कि इस महानगर की लाखों प्रजा भेड़ों और सूअरों की भांति सड़े-गन्दे झोपड़ों में पड़ी लोटती हैं। उसके आसपास सड़ीबदबू और मैले सड़े पानी के नाले बहते हैं। कीचड़ और कूड़ेके ढेर चारों ओर लगे हुए हैं। उनके शरीरोंपर मैले-कुचैले फटे चीथड़े लिपटे हुए हैं [उनमें से बहुतोंको आजीवन पेटभर अन्न और शरीर ढांकने को कपड़ा नहीं मिलता जाड़ों में सर्दीसे जकड़कर रह जाते हैं और गर्मी में सड़कों पर घूमते तथा जहाँ-तहाँ पड़ते फिरते हैं। बरसात में सड़े सीले घरों में भींगे पड़े रहते हैं सारांश यह है कि हरेक ऋतु की तीव्रता में सबसे आगे मृत्यु के पथका वही अनुगमन करते हैं। मौत ही एक है जो उनकी दशा पर दया करके जल्द उन्हें जीवन रूपी रोग के कष्ट से छुड़ाती है।]

परन्तु क्या इनसे भी बढ़कर और दृश्य नहीं हैं? हाँ हैं पर जरा और स्थिरता से देखने के हैं। बालू में बिखरी हुई चीनी को हाथी अपनी सूँड़ से नहीं उठा सकता। उसके लिये चींटी की जिह्वा की दरकार है। इसी कलकत्ते में; इसी इमारतों के नगर में, माईलार्ड की प्रजा में हजारों आदमी ऐसे हैं जिनको रहने को सड़ा झोपड़ा भी नहीं है। गलियों और सडकों पर घूमते-घूमते जहां जगह देखते हैं, वहीं पड़े रहते हैं। बीमार होते हैं तो सड़कों ही पर पड़े पांव पीट कर मर जाते है। कभी आग जलाकर खुले मैदान में पड़े रहते हैं। कभी-कभी हलवाइयों की भट्टियों से चमक कर रात काट देते हैं नित्य इनकी दो-चार लाशें जहाँ-तहाँ से पड़ी हुई पुलीस उठाती है। भला माईलार्ड तक उनकी बात कौन पहुँचावे? दिल्ली दरबार में भी जहाँ सारे भारत का वैभव एकत्र था, सैकड़ों ऐसे लोग दिल्ली की सड़कों पर पड़े दिखाई

देते थे, परन्तु उनकी ओर देखनेवाला कोई न था। यदि माईलार्ड एक बार इन लोगों को देख पाते तो पूछने की जगह हो जाती कि वह लोग भी ब्रिटिश राज्य के सिटीजन हैं या नहीं? यदि हैं, तो कृपापूर्वक पता लगाइये कि उनके रहने के स्थान कहाँ हैं और ब्रिटिश राज्य से उनका क्या नाता है? क्या कहकर वह अपने राजा और उनके प्रतिनिधि को सम्बोधन करें! किन शब्दों मे ब्रिटिश राज्य को असीस दें? क्या यों कहें कि जिस ब्रिटिश राज्य में हम अपनी जन्मभूमि में एक उंगली भूमि के अधिकारी नहीं, जिसमे हमारे शरीर को फटे-चिथड़े भी नहीं जुड़े और न कभी पापी पेट को पूरा अन्न मिला, उस राज्य की जय हो, उसका राज प्रतिनिधि हाथियों का जुलूस निकालकर सबसे बड़े हाथी पर चँवर छत्र लगाकर निकले और स्वदेश में जाकर प्रजा के सुखी होने का डंका बजावे।

इस देश में करोड़ों प्रजा ऐसी हैं जिसके लोग जब जब संध्या—सबेरे किसी स्थान पर एकत्र होते हैं तो महाराज विक्रम की चर्चा करते हैं और उन राजा महाराजाओं की गुणावली का वर्णन करते हैं जो प्रजा का दुख मिटाने और उनके अभावों का पता लगाने के लिए रात को वेश बदलकर निकला करते थे। अकबर के प्रजा पालन और बीरबल के लोकरंजन की कहानियाँ कहकर वह जी बहलाते हैं और समझाते कि कि न्याय और सुख का समय बीत गया। अब वह राजा संसार में पैदा नहीं होते जो प्रजा के सुख-दुःख की बातें उनके घरों में आकर पूछ जाते थे। महारानी विक्टोरिया को वह अवश्य जानते है कि वह महारानी थीं। अब उनके पुत्र उनकी जगह राजा और इस देश के प्रभु हुए हैं। उनका इस बात की खबर तक भी नहीं कि उनके प्रभु के कोई प्रतिनिधि हैं और वही इस देश के शासन के मालिक होते हैं तथा कभी-कभी इस देश की तीस करोड़ प्रजा का शासन करने का घमण्ड भी करते हैं, अथवा मन चाहे तो इस देश के साथ बिना कोई अच्छा बर्ताव किये भी यहाँ के लोगों को झूठा, मक्कार आदि कहकर अपनी बड़ाई करते हैं।

इस विचारों ने इतनी बात तो शिवशम्भु के जी में भी पक्की कर दी कि अब राजाप्रजा के मिलकर होली खेलने का समय गया। जो था वह काश्मीर नरेश महाराज रणवीर सिंह के साथ समाप्त हो गया। इस देश में उस समय के फिर लौटने की जल्द आशा नहीं। इस देश की प्रजा का अब वह भाग्य नहीं। साथ ही राजगुरू का भी ऐसा सौभाग्य नहीं है, जो यहां की प्रजा के अकिंचन प्रेम को प्राप्त करने की परवा करे। माइलार्ड अपने शासनकाल का सुन्दर से सुन्दर सचित्र इतिहास स्वयं लिखा सकते हैं, वह प्रजा के प्रेम की क्या परवा करेंगे। तो भी इतना सन्देश भंगड़ शिवशम्भु शर्मा अपने प्रभु तक पहुँचा देना चाहता है कि आप के द्वार पर होली खेलने की आशा करनेवाले एक ब्राह्मण को कुछ नही तो कभी कभी पागल समझ कर ही स्मरण कर लेना। वह आप की उस गूँगी प्रजाका एक वकील है, जिसके शिक्षित होकर मुँह खोलने तक आप कुछ करना नहीं चाहते!

———

कवि और चितेरे की डांड़ामेड़ी

बालकृष्ण भट्ट

इन दोनों की डाँड़ा-मेड़ी हम इसलिए कहते हैं कि मनुष्य तथा प्रकृति के भावों को ये दोनों ही प्रकट किया चाहते हैं—कवि लेखनी और शब्दों के द्वारा, चितेरा अपनी 'तूलिका' (रङ्ग भरने की कूँची) और भाँति-भाँति के चित्र-विचित्र रङ्गों से। काम दोनों का बहुत बारीक और अति कठिन है। केवल इतना ही नहीं, किन्तु एक प्रकार की लोकोत्तर प्रतिभा दोनों के लिए आवश्यकीय है। किसी कवि का श्लोक हमारे इस आशय को भरपूर पुष्ट करता है

नामरूपात्मकं विश्वं यदिदं दृश्यते द्विधा।
तत्राद्यस्य कविर्वेधा द्वितीयस्य चतुर्मुखः॥

अर्थात्--नाम और रूपात्मक जो दो प्रकार का यह संसार देख पड़ता है, उसमें से आदि अर्थात् नामात्मक जगत् का निर्माण-कर्ता कवि है और दूसरे का ब्रह्मा।

जानीते यन्न चन्द्रार्कौ जानन्ते यन्न योगिनः।
जानीते यन्नभर्गोऽपि तज्जानाति कविः स्वयम्॥

अर्थात्—इस दृष्ट जगत् के साक्षी-रूप-सूर्य और चन्द्रमा जिस बात को नहीं जानते, परोक्ष ज्ञानवान् योगीजन जिसे नहीं जानते और किसकी कहें सर्वज्ञ सदाशिव भी जो बात नहीं जानते, उसे कवि अपनी लोकोत्तर प्रतिभा के बल से जान लेता है।

कवि की प्रतिभा जिस भावके वर्णन से लोकोत्तर चातुरी प्रकट कर दिखाती है, उसी को अच्छा निपुण चितेरा अपनी प्रतिभा से चित्र के

द्वारा दिखला लेता है। अच्छा चितेरा कवि के एक एक श्लोक या दोहे के नीचे उसी भाव की ठीक तस्वीर खींच सकता है और तब इन दोनों में कहाँ तक तुलना है, इसका ठीक परिज्ञान हो सकता है; किन्तु इन दोनों की कारीगरी के परीक्षक भी बड़े निपुण होने चाहिए। दोनों के काम की बारीकी और सूक्ष्म सौंदर्य के देखने को पैनी दृष्टि चाहिए। इस तरह के परीक्षक कोई बिरले नागरिक जन होते हैं। उत्तम काव्य तथा चित्र के समझने को एक ही तरह की सूक्ष्म और तीखी समझ चाहिए। कवि और चित्रकार की कल्पना-शक्ति भी बिलकुल एक-सी है।

अब रहा 'उपादान कारण' या सामान, अर्थात् कवि के लिए वाग्-विभव और चितेरे के लिए रङ्ग का चटकीलापन इत्यादि। सो जिसके पास जैसा होगा, वैसा ही वह काव्य तथा चित्र बना सकेगा; क्योंकि कवि तथा चितेरे के लिए बाह्यवस्तु जैसे वन, नदी पर्वत आदि के वर्णन की अपेक्षा मानसिक भावों का प्रकाश कविता तथा चित्र के द्वारा अधिक कठिन है। जिसे चित्रकार रङ्ग की जरा-सी झाँई में प्रकट कर दिखाता है, उसी का प्रकट करना कवि के लिए इतना दुरूह है कि बेहद दिमाग-पच्ची करने पर दो-चार इन सत्कवियों ही के काव्य मे यह खूबी पायी जाती है। फिर भी उतनी सफाई काव्य में न आवेगी। चित्र में अंतर्लीन मनोगत भाव सहज में दर्शाया जा सकता है। मनोगत भावों का प्रकाश कालिदास और शेक्सपियर, इन्हीं दो के काव्यों में विशेष पाया जाता है मनोगत भाव--जैसे हर्ष शोक, भय, घृणा, प्रीति इत्यादि के उदाहरण साहित्य-दर्पण के तीसरे परिच्छेद में अच्छी तरह संगृहीत कर दिये गये हैं। यह बात और कवि चितेरे मे बताने और सिखाने से उतनी नहीं आती जितने स्वाभाविक मोद से होती है; किन्तु फिर भी फर्क इतना ही रहेगा कि कवि जिस आशय या भाव को बहुत-से शब्दों में लावेगा, उसे चित्रकार तूलिका के एक हल्के-से झोंक में प्रकट

कर देगा और कवि के वर्णित आशय का स्वरूप सामने खड़ा कर देगा।

चित्रकारी से कविता में इतनी विशेष बात है कि चित्र उतना चिरस्थायी न रहेगा जितनी कविता रह सकती है। तस्वीर तथा काव्य से मनुष्य की प्रकृति का पूरा परिचय मिल जाता है। हमारे देश के भद्दी पसन्द के महाजनों तथा मारवाड़ियों की दूकानों पर बनारस की बनी निहायत भद्दी देवताओं की भोंडी तस्वीर के सिवा और कुछ न पाइयेगा--जिन तस्वीरों की भद्दी चित्रकारी के सामने कलकत्ते का 'आर्ट स्टूडियो' और पूना की चित्रशाला झख मारती है। इनकी निराला पसन्द के ठीक उपयुक्त "दानलीला" मानलीला" इत्यादि के आगे हम लोगों के प्रौढ़ लेख की चातुरी कब इनके मन में स्थान पा सकती है? किसी ने कहा है--

"ये गाहक करबीन के तुम लीनी कर बीन।"

इसी तरह प्रकृति प्रेमियों को शांति-उत्पादक वन, पर्वत, आश्रम, नदी का पुलिन, ऋतु हरियाली आदि के चित्र पसन्द आते हैं। उनके स्थान पर जाने से प्रायः ऐसे ही चित्र पाइयेगा। किसी अँगरेजी के विद्वान् का कथन है--A picture in the room is the picture of the mind of the man who hangs it"

अर्थात् कमरे में लटकी हुई तस्वीर लटकानेवाले के मन की तस्वीर है। इसी तरह यदि भक्तजनों के घर जाइये, तो सन्त, महन्त, महापुरुषों के चित्र पाइयेगा जिनके देखने मात्र से एक अद्भुत शांत-रस का उद्गार मन में आ जायगा। 'पालिटिक्स' की मदिरा के नशे में चूर प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों के स्थान पर क्रामवेल, विस्मार्क-सरीखे पटु बुद्धिवालों का चित्र देखियेगा। बाल-विवाह की सर्वस्व नाश करनेवाली कुरीति ने हिन्दू-जाति की संतानों की बुद्धि और अपचय को कहाँ तक सत्यानाश में मिलाया, किस घृणित दशा में इनको पहुँचा दिया और इस कुरीति की विषम वायु से बचकर मनुष्य बल, पुष्टता, तेज कांति सौंदर्य का

कहाँ तक संचय कर सकता है, इस बात को प्रत्यक्ष करने के लिए हमें चाहिए कि मुगल तथा योरप-देश के कमनीय बालक युवती और दृढांग पुरुषों की कुछ तस्वीरें अपनी चित्रकारी में टांग रक्खे और सदैव उनको देखा करें।

कवि और चितेरे में कहाँ तक डांडामेड़ी या परस्पर की स्पर्द्धा है इसे हम अपने पाठकों को दरशा चुके हैं। अब इन दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि सभ्यता का सूर्य ज्यों-ज्यों उठता हुआ मध्याह्न को पहुँचता जाता है त्यों-त्यों चित्रकारी में नयी-नयी तराश खराश की बारीकी चौगुनी होती जाती है; पर कवियों की वाग्देवी जिस सीमा को पहले जमाने में पहुँच चुकी है उससे बराबर अब तक घटती ही गयी। यद्यपि हाल की सभ्यता बुद्धि-वैभव शाइस्तगी के मुकाबले वह जमाना बहुत पीछे हटा हुआ था। लार्ड मेकाले ने अपने एक लेख में इस बात को बहुत अच्छी तरह पर सिद्ध कर दिखाया है। मेकाले कहते हैं कि लोग इस सभ्यता के समय दर्शन. विज्ञान और दूसरी-दूसरी बुद्धि का विकास करनेवाली बातों में प्रवीणता प्राप्तकर पहले की अपेक्षा अधिक सोच सकते हैं। अनेक ग्रन्थों के सुलभ हो जाने से अधिक जान सकते हैं सही, किन्तु उस अपना सोची या जानी हुई बात को बुद्धि की अधिक पैनी आँख से देखना उन पुराने कवियों ही को आता था। इसमें सन्देह नहीं इन दिनों के विशेषज्ञ विद्वान् तर्क बहुत अच्छा कर सकेंगे। जो बात उनके तर्क की भूमिका है, उसका रूप खड़ा कर देंगे। अत्यन्त साधारण बात को अपने वाग्जाल से महाजगड्वाल कर डालेंगे विज्ञान और शिल्प में नयी-नयी ईजाद कर खुदाई का भी दावा करने को सन्नद्ध हो जांयगे; पर उन कवियों की प्रतिभा-स्वरूप सूक्ष्म बुद्धि की छाया भी न पा सकेंगे जिसे उन्होंने दो अक्षर के एक शब्द में सरस और गम्भीर भावपूर्ण करके प्रकट किया है, उसे ये आधे दर्जन शब्दों में भी न प्रकाशित कर सकेंगे। हमारे कवियों की पैनी बुद्धि का कारण यह भी है कि पूर्वकाल में जब हमारी समाज बालक-

दशा में थी, उनके लए 'ज्ञातव्य विषय' (जानने के लायक बात) बहुत थोड़े थे! जिधर उन्होंने नजर दौडाई, उधर ही उन्हें नये-नये जानने के योग्य पदार्थ मिलते गये। बुद्धि उनकी विमल थी, चित्त में किसी तरह का कुटिल भाव नहीं आने पाया था क्योंकि समाज अब के समान प्रौढ़ दशा को नहीं पहुँची थी; इसलिए बहुत बातों में सभ्यता की बुरी हवा का झकोरा भी उन शिष्ट पुरुषों तक न पहुँच सका था। जब पात्र बड़ा होगा और जो वस्तु उस पात्र में रक्खी जायगी वह कम होगी, तो वह वस्तु उसमें बहुत अच्छी तरह समा सकेगी। बुद्धि उनकी जैसी तीव्र और विमल थी, वैसा ही मन में उनके किसी तरह की कुटिलता और मैल न रहने से जिस बात के वर्णन में उन्होंने अपने खयाल को रुजू किया, वह सांगोपांग पूरा उतरा। तात्पर्य यह कि एक कविता के लिए वह नयी सभ्यता विष हो गयी, दूसरी अर्थात् चित्रकारी के लिए वह अमृत का काम दे रही है। इसी से काव्य दिन-दिन घटता गया, और चित्रकारी रोज-रोज बढ़ती।

———

लोभ

महावीर प्रसाद द्विवेदी

[लोभ बहुत बुरी है। वह मनुष्य का जीवन दुःखमय कर देता है, क्योंकि अधिक धनी होने से कोई सुखी नहीं होता है। धन देने से सुख नहीं मोल मिलता इसलिए जो मनुष्य सोने और चांदी के ढेर ही को सब कुछ समझता है, वह मूर्ख है मूर्ख नहीं तो वह वृथा अहंकारी अवश्य है। जो बहुत धनवान है वह यदि बहुत बुद्धिमान और बहुत योग्य भी होता तो हम धन ही को सब कुछ समझते। परन्तु ऐसा नहीं है।] [धनी मनुष्य सबसे अधिक बुद्धिमान नहीं होते। इसलिए धन को विशेष आदर की दृष्टि से देखना भूल है, क्योंकि उससे सच्चा सुख नहीं मिलता। इस देश के पहुँचे हुए विद्वानों ने धन को सदा तुच्छ माना है। यह बात आजकल के समय के अनुकूल नहीं।] [योरप और अमेरिका के ज्ञानी धन ही को बल--बल नहीं, सर्वस्व समझते हैं। [परन्तु जिस धन के कारण अनेक अनर्थ होते हैं, उस धन को प्रधानता दी जाय परन्तु भारतवर्ष

में उसे प्रधानता मिलना कठिन है। जिस देश के निवासी संसार ही को मायामय, अतएव दुःख का मूल कारण समझते हैं, वे धन को कदापि सुख का हेतु नहीं मान सकते।]

[बहुत धनवान होना व्यर्थ है। उससे कोई लाभ नहीं, क्योंकि साधारण रीति पर खाने-पीने और पहनने आदि के लिए जो धन काम आता है वही सफल है। उससे अधिक धन होने से कोई काम नहीं निकलता। स्वभाव अथवा प्रकृति के अनुसार खाने पीने की आवश्यकताओं को दूर करने के लिए धन की चाह होती है दूसरों को दिखलाने अथवा उसे स्वयं देखने के लिए धन इकट्ठा करने से कोई लाभ नहीं।] [कोई

जगतसेठ ही क्यों न हो यदि वह सितार या वीणा बजाना सीखना चाहेगा तो उसे उस विद्या को उसी तरह सिखाना पड़ेगा जिस तरह एक निर्धन महाकंगाल को सिखाना पड़ता है। उस गुण को प्राप्त करने में उसकी धनाढ्यता जरा भी काम न देगी। वह उसे मोल नहीं ले सकता। जब उसे धन के बल से वीणा बजाने के समान एक साधारण गुण भी नहीं मिल सकता, तब शान्ति शुद्धता और धीरता आदि पवित्र गुण क्या कभी उसे मिल सकते हैं! कभी नहीं।

जिसके पास आवश्यकता से थोड़ा भी अधिक धन हो जाता है, वह अपने आपको अर्थात् यों कहिये कि अपनी आत्मा को अपने वश में नहीं रख सकता। क्योंकि सन्तोष न होने के कारण वह उस धन को प्रतिदिन बढ़ाने का यत्न करता है। अतएव वह धन किस काम का जो लोभ को बढ़ाता जाय। भूख लगने पर भोजन कर लेने पर तृप्ति हो जाती है। प्यास लगने पर पानी पी लेने से तृप्ति हो जाती है परन्तु धन से तृप्ति नहीं होती। उसे पाकर और भी अधिक लोभ बढ़ता है। इसलिए धनी होना एक प्रकार का रोग है। रात को जाड़े से बचने के लिए एक लिहाफ पर्याप्त होता है। यदि किसी के ऊपर आठ-दस लिहाफ डाल दिये जायँ तो उसे बोझ मालूम होने लगेगा और उल्टा कष्ट होगा। परन्तु धन की वृद्धि से कष्ट नहीं मालूम होता। इसलिए धनाढ्यता भी एक प्रकार की बीमारी है। जिसे भस्मक रोग हो जाता है, वह खाता ही चला जाता है उसे कभी तृप्ति नहीं होती। तृप्ति का न होना अर्थात् आवश्यकताओं का बढ़ जाना ही दुःखका कारण है। और जहाँ दुःख है वहाँ सुख नहीं रह सकता। उन दोनों में परस्पर बैर है। अतएव उसी को धनी समझना चाहिये जिसकी आवश्यकतायें कम हैं क्योंकि वह थोड़े ही में तृप्त हो जाता है तृप्ति ही सुख है और लोभ ही दुःख है।

सन्तोष निरोगता का लक्षण है, लोभ बीमारी का लक्षण है। जो मनुष्य खाते-खाते सन्तुष्ट नहीं होता, उसे अधिक खिलाने की नहीं, उसके लिये वैद्य की आवश्यकता होती है। ऐसे मनुष्यों को अधिक

खिलाने की अपेक्षा उसे खाये हुए पदार्थों को, वमन कराके बाहर निकालना पड़ता है, क्योंकि आवश्यक अथवा आवश्यकता से अधिक पदार्थ पेट में रहने से रोग हुए बिना नहीं रहता। इसी तरह जिनको सन्तोष नहीं, अर्थात् जो लोग प्रतिदिन अधिक से अधिक धन इकट्ठा करने के यत्न में रहते हैं, उनको अधिक देने की अपेक्षा उनसे कुछ छीन लेना अच्छा है, क्योंकि जब कोई वस्तु कम हो जाती है, तब मनुष्य बची हुई से सन्तोष करता है। अतएव सन्तोष होने से उसे सुख मिलता है। सन्तोष न होने से कभी सुख नहीं मिलता किसी न किसी वस्तु की सदैव कमी बनी रहती है। लोभी मनुष्यको चाहे त्रिलोककी सम्पत्ति मिल जाय, तो भी उसे और सम्पत्ति पाने की इच्छा बनी ही रहेगी।

लोभ एक तरह की बीमारी है, परन्तु है वह बड़ी सख्त बीमारी। सख्त इसलिए है कि वह अपने बढ़ाने का यत्न करती है, घटाने का नहीं। जो मनुष्य भूखा होता है, वह भोजन करता है भोजन छोड़ नहीं देता परन्तु लोभी का प्रकार उलटा है उसे द्रव्य की भूख रहती है, परन्तु जब वह उसे मिल जाता है तब उसे वह काम में नहीं लाता; रख छोड़ता है, और अधिक धन पाने के लिये दौड़ धूप करने लगता है।

लोभी मनुष्य बहुधा इसलिए धन इकट्ठा करता है जिसमें उसे किसी समय उसकी कमी न पड़े परन्तु उसे उसकी कमी हमेशा ही बनी रहती है। पहले उसकी कमी कल्पित होती है, परन्तु पीछे से वह यथार्थ—असली हो जाती है क्योंकि घर में धन होने पर भी वह उसे काम में नहीं ला सकता। लोभ से असन्तोष की वृद्धि होती है, और सन्तोषका सुख खाक में मिल जाता है। लोभ से मूल धन व्यर्थ बढ़ता है, और उसका उपयोग कम होता है लोभी का धन देखने के लिये, वृथा रक्षा करने के लिए और दूसरों को छोड़ [illegible] के [illegible] ता है। ऐसे धन से क्या लाभ ऐसे धन को इकट्ठा करने में अनेक कष्ट उठाने की अपेक्षा संसार भरमें जितना धन है, उसे अपना ही समझना अच्छा है। क्योंकि लोभी का धन उसके काम तो आता नहीं, इसलिये

उसे दूसरे का ही धन, अपना समझने में कोई हानि नहीं। उससे उल्टा लाभ है. क्योंकि उसे प्राप्त करने के लिये परिश्रम नहीं करना पड़ता। लोभियों को खजाने का सन्तरी समझना चाहिये। लोभी मनुष्य जब तक जीते हैं तब तक सन्तरी के समान अपने धन की रखवाली करते हैं और मरने पर उसे दूसरों के लिये छोड़ जाते हैं।

कोई-कोई लोभी, अपने पीछे अपने लड़कों के काम आने के लिये धन इकट्ठा करते हैं उनको यह समझ नहीं कि जिस धन के बिना उनका काम चल गया उसके बिना उनके लड़कोंका भी चल जायगा। इस प्रकार बाप-दादे का धन पाकर अनेक लोग बहुधा उसे बुरे कामों में लगाकर खुद भी बदनाम होते हैं और अपने बाप-दादे को भी बदनाम करते हैं

धनवान यदि लोभी हैं तो उसे रात को वैसी नींद नहीं आ सकती जैसी निर्धन अथवा निर्लोभी को आती है। धनवान को निर्धन की अपेक्षा भय भी अधिक रहता है। यदि मनुष्य लोभी है तो थोड़ी सम्पत्ति वाले से इस अधिक सम्पत्ति वाले ही को दरिद्री कहेंगे क्योंकि जिसे ५ रु० की आवश्यकता है वह उतना दरिद्री नहीं, जितना ५०० रु० की आवश्यकता वाला है। कहाँ ५ और ५००। सधनता और निर्धनता मन को बात है। जिनका मन उदार है, वे अनुदार और लोभी मनुष्यों की अपेक्षा अधिक धनवान है, क्योंकि उदारता के कारण इनका धन किसी के काम तो आता है--चाहे वह बहुत ही थोड़ा क्यों न हो। बहुत धनी होकर भी यदि मनुष्य लोभी हुआ और उसका धन किसी के काम न आया तो उसका होना न होना दोनों बराबर है। शेखशादी ने बहुत ठीक कहा है--"तवंगरी बदिलस्त न बमाल" अर्थात् अमीरी दिल से होती है, माल से नहीं

— — —

नयनों की गङ्गा

अध्यापक पूर्ण सिंह

धन्य हैं वे नयन जो कभी-कभी प्रेम नीर से भर आते हैं। प्रतिदिन गंगा जल से तो स्थान होता है परन्तु जिस पुरुष ने नयनों की प्रेम धारा में कभी स्नान किया है वही जानता है कि बस स्नान से मन के मलिन भाव किस तरह बह जाते हैं, अन्तःकरण कैसे पुष्प की तरह खिल जाता है हृदय ग्रन्थि किस तरह खुल जाती है, कुटिलता और नीचता का पर्वत कैसे चूर-चूर हो जाता है। सावन-भादों की वर्षा के बाद वृक्ष जैसे नवीन कोपलें धारण किये हुए एक विचित्र मनमोहनी छटा दिखाते हैं उसी तरह इस प्रेमस्नान से मनुष्य की आन्तरिक अवस्था स्वच्छ, कोमल और रसभीनी हो जाती है प्रेमधाराके जल से सींचा हुआ हृदय प्रफुल्लित हो उठता है। हृदयस्थलों में पवित्र भावों के पौधे उगते बढ़ते और फलते हैं। वर्षा और नदी के जल से तो अन्न पैदा होता हैं, परन्तु नयनों की गंगा से प्रेम और वैराग्य के द्वारा मनुष्य-जीवन को आग और बर्फ से वपतिस्मा मिलता है अर्थात् नया जन्म होता है--मानों प्रकृति ने हर एक मनुष्य के लिए इस नयन-नीर के रूप में मसीहा भेजा है, जिससे हर एक नर-नारी कृतार्थ हो सकते हैं। यही वह यज्ञोपवीत है जिसके धारण करने से हर आदमी द्विज हो सकता है। क्या ही उत्तम किसी ने कहा है :-

> हाथ खाली मर्दु मे दीदा बुनों से क्या मिले
> मोतियों की पंज-ए-मिजगां में इक माला तो हो॥

आज हम उस अश्रु-धारा का स्मरण नहीं करते जो ब्रह्मानन्द के कारण योगी जनों के नयनों से बहती है आज तो लेखक के लिए अपने जैसे साधारण पुरुषों की अश्रु धारा का स्मरण करना ही इस लेख का मंगलाचरण है प्रेम की बूँदों में यह असार संसार मिथ्या रूप होकर घुल जाता है और हम पृथ्वी से उठकर आत्मा के पवित्र नभ मंडल में उड़ने लगते हैं। अनुभव करते हुए भी ऐसी घुली हुई अवस्था में हर कोई समाधिस्थ हो जाता है। अपने आपको भूल जाता है शरीराभ्यास न जाने कहाँ चला जाता है प्रेम की काली घटा ब्रह्मारूप में लीन हो जाती है। चाहे जिस शिल्पकार चाहे जिस कलाकुशल-जन के जीवन को देखिए उसे इस परमावस्था का स्वयं अनुभव हुए बिना अपनी कला का तत्वज्ञान नहीं होता। चित्रकार सुन्दरता का अनुभव करता है और तत्काल ही मारे खुशी के नयनों में जल भर आता है। बुद्धि, प्राण, मन और तन सुन्दरता में डूब जाते हैं जिसको देख देखकर चित्रकार की आंखे इस मदहोश करने वाली ओस से तर न हुई हो, वह चित्रकारी क्या, जिसने हजार बार चित्रकार को इस-निद्रा में सुलाया हो।

कवि को देखिए, अपनी कविता के रसपान से मत्त होकर वह अन्तःकरण के भी परे आध्यात्मिक नभ-मंडल के बादलों में विचरण करता है। ये बादल चाहे आत्मिक जीवन के केन्द्र हों, चाहे निर्विकल्प समाधि के मन्दिर के बाहर के घेरे, इनमें जाकर कवि जरूर सोता है। उसका अस्थि-मांस का शरीर इन बादलों में घुल जाता है कवि वहाँ ब्रह्म रस को पान करता है और अचानक बैठे-बिठाये श्रावण-भादों के मेघ की तरह संसार पर कविता की वर्षा करता है। हमारी आंखें कुछ ऐसी ही हैं। जिस प्रकार वे इस संसार के कर्ता को नहीं देख सकतीं उसी प्रकार आध्यात्मिक देश के बादल और धुन्ध में सोये हुए कलाधर पुरुष को नहीं देख सकती उसकी कविता जो हमको मदमस्त करती है वह एक स्थूल चीज है और यही कारण है कि जो कलानिपुण जन प्रतिदिन अधिक से अधिक उस आध्यात्मिक अवस्था का अनुभव

करता है वह अपनी एक बार अलापी हुई कविता को उस धुन से नहीं गाता जिससे वह अपने ताजे से ताजे दोहा और चौपाइयों का गान करता है। उसकी कविता के शब्द केवल इस वर्षा के दाने हैं। यह तो ऐसे कवि के शान्तरस की बात हुई। इस तरह के कवि का वीररस इसी शान्तरस के बादलों की टक्कर से पैदा हुई बिजली की गरज और चमक है। कवि को कविता में देखना तो साधारण काम है, परन्तु आँख वाले उसे कहीं और ही देखते हैं। कवि की कविता और उसका आलाप उसके दिल और गले से नहीं निकलते। वे तो संसार के ब्रह्म-केन्द्र से आलापित होते हैं केवल उस आलाप करनेवाली अवस्था का नाम कवि है। फिर चाहे वह अवस्था हरे-हरे बांस की पोरों से, चाहे नारद की वीणा से और चाहे सरस्वती के सितार से वह निकले वही सच्चा कवि है जो दिव्य सौंदर्य के अनुभव में लीन हो जाय और लीन होने पर जिसकी जिह्वा और कण्ठ मारे खुशी के रुक जांय, रोमांच हो उठे, निजानन्द में मस्त होकर कभी रोने लगे और कभी हँसने।

हर एक कला-निपुण पुरुष के चरणों में नयनों की गंगा सदा बहती है। क्या यह आनन्द हमको विधाता ने नहीं दिया, क्या उसी नीर में हमारे लिए राम ने अमृत नहीं भरा। अपना निश्चय तो यह है कि हर एक मनुष्य जन्म से ही किसी न किसी अद्भुत प्रेम-कला से युक्त होता है। किसी विशेष कला में निपुण न होते हुए भी एक राम ने हर एक हृदय में प्रेम-कला की कुञ्जी रख दी है। इस कुञ्जी के लगते ही प्रेम-कला की सम्पूर्ण सम्भूति अज्ञानियों और निरक्षरों को भी प्राप्त हो सकती है।

ममता

जयशंकर प्रसाद

रोहतास दुर्ग के प्रकोष्ठ में बैठी हुई युवती ममता, शोण के तीक्ष्ण गम्भीर प्रवाह को देख रही है ममता विधवा है। उसका यौवन शोण के समान ही उमड़ रहा था मन में वेदना, मस्तक में आँधी आँखों में पानी की बरसात लिये वह सुख के कंटक-शयन में विकल थी। वह रोहतास-दुर्गपति के मन्त्री चूड़ामणि की अकेली दुहिता थी, फिर उसके लिये कुछ अभाव होना असम्भव था, परन्तु वह विधवा थी- हिन्दू-विधवा संसार में सबसे तुच्छ निराश्रय प्राणी है--तब उसकी विडम्बना का कहाँ अन्त था?

चूड़ामणि ने चुपचाप उसके प्रकोष्ठ मे प्रवेश किया। शोण के प्रवाह में, उसके कल नाद में, अपना जीवन मिलाने में वह बेसुध थी। पिता का आना न जान सकी। चूड़ामणि व्यथित हो उठे। स्नेह-पालिता पुत्री के लिए क्या करें, यह स्थिर न कर सकते थे। लौटकर बाहर चले गये ऐसा प्रायः होता, पर आज मन्त्री के मन में बड़ी दुश्चिन्ता थी। पैर सीधे न पड़ते थे। एक पहर बीत जाने पर वे फिर ममता के पास आये। उस समय उनके पीछे दस सेवक चाँदी के बने थालों में कुछ लिए हुए खड़े थे; कितने ही मनुष्यों के पद-शब्द सुन ममता ने घूमकर देखा। मन्त्री ने सब थालों को रखने का संकेत किया। अनुचर थाल रखकर चले गये।

ममता ने पूछा--"यह क्या है पिता जी!"

"तेरे लिए, बेटी! उपहार है।"--कहकर चूड़ामणि ने उसका

आवरण उलट दिया। स्वर्ण का पीलापन उस सुनहली संध्या में विकीर्ण होने लगा। ममता चौंक उठी--

"इतना स्वर्ण! यह कहाँ से आया।"

"चुप रहो ममता यह तुम्हारे लिये है"

"तो क्या आपने म्लेच्छ का उत्कोच स्वीकार कर लिया। पिताजी यह अनर्थ है, अर्थ नहीं। लौटा दीजिये। पिताजी! हम लोग ब्राह्मण है, इतना सोना लेकर क्या करेंगे?"

"इस पतनोन्मुख प्राचीन सामन्त वंश का अन्त समीप है, बेटी! किसी भी दिन शेरशाह रोहिताश्व पर अधिकार कर सकता है; उस दिन मंत्रित्व न रहेगा तब के लिए बेटी!"

"हे भगवान्! तब के लिए! विपद के लिए इतना आयोजन! परम पिता की इच्छा के विरुद्ध इतना साहस! पिताजी, क्या भीख न मिलेगी। क्या कोई हिन्दू भू-पृष्ठ पर न बचा रह जायगा, जो ब्राह्मण को दो मुट्ठी अन्न दे सके? यह असम्भव है। फेर दीजिये पिताजी मैं कांप रही हूँ—इसकी चमक आँखों को अन्धा बना रही है।"

"मूर्ख है" —कहकर चूड़ामणि चले गये।

दूसरे दिन डोलियों का तांता भीतर आ रहा था, ब्राह्मण मंत्री चूड़ामणि का हृदय धक-धक करने लगा वह अपने को रोक न सका। उसने आकर रोहिताश्व-दुर्ग के तोरण पर डोलियों का आवरण खुलवाना चाहा। पठानों ने कहा —"महिलाओं का अपमान करना है।"

बात बढ़ गई। तलवारें खीचीं, ब्राह्मण वहीं मारा गया और राजा-रानी और कोष सब छली शेरशाह के हाथ पड़े; निकल गई ममता। डोली मे भरे पठान-सैनिक दुर्ग भर में फैल गये, पर ममता न मिली।

२

काशी के उत्तर, धर्म चक्र विहार, मौर्य और गुप्त सम्राटों की कीर्ति का खँडहर था। भग्न चूड़ा, तृण गुल्मों से ढके हुए प्राचीर, ईंटों की

ढेर में बिखरी हुई भारतीय शिल्प की विभूति, ग्रीष्म रजनी की चंद्रिका में अपने को शीतल कर रही थी।

जहाँ पञ्चवर्गीय भिक्षु गौतम का उपदेश ग्रहण करने के लिए पहले मिले थे, उसी स्तूप के भग्नावशेष की मलिन छाया में एक झोपड़ी के दीपालोक में एक स्त्री पाठ कर रही थी-

"अनन्याश्चिन्तयन्तो माँ ये जनाः पर्युपासते "

पाठ रुक गया। एक भीषण और हताश आकृति दीप के मंद प्रकाश में सामने खड़ी थी। स्त्री उठी उसने कपाट बन्द करना चाहा। परन्तु उस व्यक्ति ने कहा "माता! मुझे आश्रय चाहिए"

"मैं मुगल हूँ। चौसा युद्ध में शेरशाह से विपन्न होकर रक्षा चाहता हूँ। इस रात अब आगे चलने में असमर्थ हूँ।"

"क्या शेरशाह से!"--स्त्री ने अपने ओंठ काट लिए।

'हाँ माता!'

"परन्तु तुम भी वैसे ही क्रूर हो, वही भीषण रक्त की प्यास, वही निष्ठुर प्रतिबिम्ब, तुम्हारे मुख पर भी है! सैनिक! मेरी कुटी में स्थान नहीं जाओ कहीं दूसरा आश्रय खोज लो!"

"गला सूख रहा है, साथी छूट गये हैं, अश्व गिर पड़ा है—इतना थका हुआ हूँ इतना!"--कहते-कहते वह व्यक्ति धक्र से बैठ गया और उसके सामने ब्रह्माण्ड घूमने लगा। स्त्री ने सोचा, यह विपत्ति कहाँ से आई? उसने जल दिया, मुगल के प्राणों की रक्षा हुई। वह सोचने लगी--"सब विधर्मी दया के पात्र नहीं मेरे पिता के वध करनेवाले आततायी!"--घृणा से उसका मन विरक्त हो गया।

स्वस्थ होकर मुगल ने कहा--"माता! तो फिर मैं चला जाऊँ?"

स्त्री विचार कर रही थी--मैं ब्राह्मणी हूं, मुझे तो अपने धर्म-अतिथिदेव की उपासना का पालन करना चाहिए। परन्तु यहां ----

नहीं, सब विधर्मी दया के पात्र नहीं। परन्तु यह दया तो नहीं......
कर्तव्य करना है। तब!"

मुगल अपनी तलवार टेककर उठ खड़ा हुआ। ममता ने कहा--
"क्या आश्चर्य है कि तुम भी छल करो; ठहरो।"

"छल! नहीं, तब नहीं स्त्री! जाता हूं, तैमूर का वंशधर स्त्री से छल करेगा! नहीं, जाता हूँ,। भाग्य का खेल हैं।"

ममता ने मन में कहा—"यहाँ कौन दुर्ग है। यही झोपड़ी न, जो चाहे ले ले। मुझे तो अपना कर्तव्य करना पड़ेगा।" वह बाहर चली आई और मुगल से बोली- "जाओ भीतर, थके हुए भयभीत पथिक! तुम चाहे जो हो मैं तुम्हें आश्रय देती हूं। मैं ब्राह्मण कुमारी हू, सब अपना धर्म छोड़ दें, तो मैं भी क्यों छोड़ दूं।" मुगल ने चन्द्रमा के मन्द प्रकाश मे वह महिमामय मुखमण्डल देखा; उसने मन-ही-मन नमस्कार किया। ममता पास की टूटी हुई दीवारों मे चली गई भीतर थके पथिक ने झोपड़ी मे विश्राम किया।

प्रभात में खण्डहर की सन्धि से ममता ने देखा सैकड़ों अश्वारोही उस प्रान्त में घूम रहे है। वह अपनी मूर्खता पर अपने को कोसने लगी।

अब उस झोपड़ी से निकलकर उस पथिक ने कहा—'मिर्जा मैं यहां हूँ।"

शब्द सुनते ही प्रसन्नता की चीत्कार ध्वनि से वह प्रान्त गूँज उठा ममता अधिक भयभीत हुई। पथिक ने कहा--'वह स्त्री कहाँ है। उसे खोज निकालो।" ममता छिपने के लिये सचेष्ट हुई वह मृग-दाव में चली गई। दिन भर उसमें से न निकली। संध्या में जब उन लोगों के जाने का उपक्रम हुआ तो ममता ने सुना, पथिक घोड़े पर सवार होते हुए कह रहा है "मिरजा! उस स्त्री को मैं कुछ दे न सका। उसका घर बनवा देना, क्योंकि मैंने विपत्ति में यहां विश्राम पाया था। यह स्थान भूलना मत।" इसके बाद वे चले गये।

चौसा के मुगल-पठान-युद्ध को बहुत दिन बीत गये। ममता अब सत्तर वर्ष की वृद्धा है। वह अपनी झोपड़ी में एक दिन पड़ी थी। शीतकाल का प्रभात था। उसका जीर्ण कंकाल खाँसी से गूँज रहा था। ममता की सेवा के लिए गाँव की दो-तीन स्त्रियाँ उसे घेर कर बैठी थीं; क्योंकि वह आजीवन सबके सुख-दुःख की समभागिनी रही।

ममता ने जल पीना चाहा, एक स्त्री ने सीपी से जल पिलाया। सहसा एक अश्वारोही उसी झोपड़ी के द्वार पर दिखाई पड़ा। वह अपनी धुन में कहने लगा—"मिरजा ने जो चित्र बनाकर दिया है, वह तो इसी जगह का होना चाहिए। वह बुढ़िया मर गई होगी, अब किससे पूछूँ कि एक दिन शाहंशाह हुमाँयू किस छप्पर के नीचे बैठे थे? यह घटना भी तो सैंतालिस वर्ष से ऊपर की हुई।"

ममता ने अपने विकल कानों से सुना। उसने पास की स्त्री से कहा—"बुलाओ!"

अश्वारोही पास आया। ममता ने रुक-रुक कर कहा—"मैं नहीं जानती कि वह शाहंशाह था या साधारण मुगल; पर एक दिन इसी झोपडी के नीचे वह रहा। मैंने सुना था कि वह मेरा घर बनवाने की आज्ञा दे चुका था! मैं आजीवन अपनी झोपड़ी खोदवाने के डर से भयभीत ही थी कि भगवान ने सुन लिया. मैं....आज इसे छोड़े जाती हूँ अब तुम इसका मकान बनाओ या महल, मैं अपने चिर-विश्रामगृह में जाती हूँ।"

वह अश्वारोही अवाक् खड़ा था। बुढ़िया के प्राण पक्षी अनन्त में उड़ गये।

वहाँ एक अष्टकोण मन्दिर बना, और उस पर शिलालेख लगाया गया—

"सातो देश के नरेश हुमाँयू ने एक दिन यहाँ विश्राम किया था। उनके पुत्र अकबर ने उनकी स्मृति में यह गगनचुम्बी मन्दिर बनाया।"

पर उसमें ममता का कहीं नाम नहीं।

जीवेम शरदः शतम्

[डा० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी]

इस लेख का नाम संस्कृत में दिया गया है। यह इसलिए किया गया है कि हमारे पाठक शुरू में ही मह समझ लें कि यह प्रार्थना नई नहीं है, बहुत पुरानी है। नित्य ही धार्मिक हिन्दू अपनी संध्या-पूजा के समय भगवान् से प्रार्थना करता है कि वह अदीन होकर सौ वर्ष तक जीता रहे। केवल जीने की प्रार्थना नहीं की गई है। कार्य करने की शक्ति शिथिल हो गई हो, विचार विवेक का सामर्थ्य जाता रहा हो, दूसरों का मुहताज बनकर ही जीवित रहना पड़े तो इस जीवन से क्या लाभ? इसीलिए उपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा गया है—'कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा रखे'—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। इस वाक्य का अर्थ यह नहीं हो सकता कि जो जी में आये वही कर्म करता हुआ मनुष्य जीवन यापन करे। यह जीवन मनुष्य के उत्तम लक्ष्यों के अनुकूल होना चाहिए। ऐसा कर्म जो दूसरों के लिए कष्टदायक हो, समाज के यथार्थ मंगल का बाधक और मनुष्यता के प्रतिकूल हो, कभी शास्त्र द्वारा समर्थित नहीं हो सकता। इसलिए कर्म तो ऐसा ही होना चाहिए जो मनुष्य-जीवन के उच्चतर लक्ष्य के अनुकूल हो। साथ ही उसमें दैन्य का भाव नहीं आना चाहिए। दीनता उस मानसिक दुर्बलता को कहते हैं जो मनुष्य को दूसरे की दया पर जीने का प्रलोभन देती है, जो मुहताज बनकर किसी की कृपा प्राप्त करने को सुविधाजनक मार्ग समझती है। भारतवर्ष के श्रेष्ठ वीर अर्जुन की दो प्रतिज्ञाएँ प्रसिद्ध हैं—दैन्य न दिखाना और भागना नहीं। वीरत्व के ये ही दो नाभि-केन्द्र हैं

अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्। दैन्य और पलायन मनुष्य के कर्ममय जीवन के विरूद्ध जाते हैं। वीरत्वपूर्ण मन से, धर्मानुकूल कर्म करते हुए ही मनुष्य को १०० वर्ष तक जीने की इच्छा रखनी चाहिए।

भारतवर्ष नित्य ही इस प्रकार की प्रार्थना करता रहा है। पर उसकी प्रार्थना फलवती नहीं हुई है। साधारण जनता धर्मानुकूल कार्य करते-करते सौ वर्ष जीने की अभिलाषा मन में चाहे पोषण करती हो, पर वह न तो दैन्य से मुक्त हो सकी है, न कर्म के प्रति उत्साह ही जिलाए रख सकी है, और न सौ या सवा सौ वर्ष की औसत आयु ही पा सकी है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी एक कविता में भारतीय किसान को देखकर कहा है "यह जो खड़ा है, सिर झुकाए मुँह बन्द किए - जिसके म्लान मुख पर १००-१०० शताब्दियों की वेदना की करुण कहानी लिखी हुई है, कन्धेपर जितना भी बोझ लाद दो मन्दगति से तब तक ढोता जाता है जब तक उसमें प्राण बचे रहते हैं। उसके बाद सन्तान को दे जाता है वह बोझा! पीढ़यों तक यही क्रम चलता है। अदृष्ट को दोष नहीं देता, देवता को स्मरण करता है, पर निन्दा नहीं करता किसी मनुष्य को भी दोष नहीं देता, मान, अभिमान करना जानता ही नहीं। सिर्फ अन्न के दो दाने खोंट कर किसी प्रकार अपने कष्टक्लिष्ट प्राणों को जिलाए रखता है। वह अन्न जब कोई छीनने लगता है, उस थके थकाए प्राणको भी जब गर्वान्ध निष्ठुर अत्याचार चोट पहुँचाता है तो वह नहीं जानता कि न्याय पाने की आशा से वह किसके द्वार पर जाय। केवल दरिद्रों के भगवान को उसाँसें भरकर एक बार पुकारता है और चुपचाप मर जाता है।" रवीन्द्रनाथ ने कवि-जनोचित भाषा में इस अत्यन्त दयनीय दशा का जो मर्मभेदक चित्र खींचा है वह सत्य है। क्यों ऐसा हुआ? जिस देश के मनीषियों ने सहस्रों वर्ष पूर्व से वीरत्वपूर्ण चित्त से कर्म करते हुए १०० वर्ष तक जीवित रहने का पुनीत संकल्प घोषित किया उनके उत्तराधिकारी आज इस हीन अवस्था को कैसे

पहुँच गये ? इतना महान् संकल्प और उसकी ऐसी मर्म-विदारक अवस्था ? इन दोनों का सामंजस्य कहाँ है ?

बात यह है कि केवल प्रार्थना या संकल्प के महान् होने से ही काम नहीं बनता। उस संकल्प के पीछे दृढ़ कर्मशक्ति चाहिए। यदि हम केवल बड़ी इच्छाएँ ही मन में पोसते रहें तो उससे कुछ बड़ी सिद्धि नहीं मिल जायगी। संस्कृत के पुराने सुभाषित में कहा गया है कि सोये सिंह के मुँह में मृग स्वय नहीं घुस जाया करते, इसके लिये उसे हाथ पैर मारना होता है, घात लगाये रहना पड़ना है, जुगत बाँधनी होती है। सिंह की इच्छा भी बड़ी हो सकती है, उसमें पराक्रम की मात्रा भी बहुत हो सकती है पर हाथ-पैर तो उसे हिलाना ही होगा।

केवल संकल्प से काम नहीं चलता, उसे संकल्प के अनुसार प्रयत्न भी चाहिए। दाम सबका चुकाना पड़ता है। बड़ी वस्तु का दाम भी बड़ा होता है और वीरत्वपूर्ण चित्त से कर्म करते सौ वर्ष तक अदीन जीवन निस्सन्देह बहुत बड़ी वस्तु है। उसे पाने के लिए उतना ही महान् त्याग और तप आवश्यक है। दुनिया में बड़ी बड़ी बातों की महिमा किससे छिपी है ? कौन नहीं जानता कि तप बड़ी चीज है, त्याग बड़ी वस्तु है, ब्रह्मचर्य अच्छी चोज है ? यह भी नहीं कि लोग यह नहीं चाहते कि उनमें ये गुण आ जायें। सब चाहते हैं कि लोग उन्हें त्यागी तपी और विवेकी समझें; पर कोई ऐसी बडी बाधा हमारा रास्ता रोक लेती है कि हम कुछ कर ही नहीं पाते। भागवत में प्रह्लाद ने भगवान् से कहा था कि 'हे भगवान्, मौन व्रत, शास्त्रज्ञान, अध्ययन, धर्माचरण, तप, समाधि और मुक्ति-तत्व ये सारी बातें उन लोगों के लिए केवल बहस की चीज बन जाती हैं, जिन्होने अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर लिया।'

यही ठीक है। जो अपने समस्त इन्द्रिय-समूह को वश में नहीं कर लेता उस असंयमी पुरुष या स्त्री के सब बड़े संकल्प उसी प्रकार

व्यर्थ होते हैं जिस प्रकार फूटे बर्तन में पानी सुरक्षित रखने का प्रयास व्यर्थ हो जाता हैं। इसलिए किसी भी महान् संकल्प के लिए दृढ़ संयम और निष्ठा सबसे पहली शर्त है। सौ वर्ष तक जीवित रहने के महान् संकल्प के लिए भी दृढ़ संयम आवश्यक है। जितेन्द्रियता चरित्रबल की कुञ्जी है। वस्तुतः आजकल जिसे चरित्रबल कहा जाने लगा है उसे ही पुराना भारतवासी जितेन्द्रियता कहता था अपने आदर्शों के प्रति अविचल निष्ठा इसी गुण से आती है। महाभारत में कहा गया है कि कामवश, भयवश, लोभवश, यहाँ तक कि प्राण के लिए भी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्येज्जीवितस्यापि. हेतोः

यह अविचल निष्ठा तभी संभव है जब मनुष्य की अपनी इन्द्रियाँ अपने वश में हों। यह गुण अभ्यास से प्राप्त होता है। दुर्भाग्यवश हमारे देश के शिक्षितों में भी इस गुण का अभाव बढ़ता जा रहा है। जितना भ्रष्टाचार इस समय देश में फैला हुआ है उतना शायद ही कभी रहा हो। प्रह्लाद ने जो कहा था कि अजितेन्द्रिय पुरुषों के लिए सब बड़ी बड़ी बातें केवल बहस की बातें रह जाती हैं उसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारा शिक्षितवर्ग है। आप घंटों सत्य और अहिंसा पर, धर्म और संस्कृति पर, नित्य व्याख्यान सुन सकते हैं, समाचार पत्रों में साहस और निष्ठा पर लेख पढ़ सकते हैं, पर "कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न सा मतिः" हमारे देश की सामूहिक समस्या इस समय चरित्रगत कमजोरी है। नीचे से ऊपर तक लोभ और भय का बीभत्स नृत्य देखकर हृदय काँप उठता है। चरित्रबल न रहे तो आदमी अपने संकल्प का अर्थ भी नहीं समझना चाहता। जो व्यक्ति यह प्रार्थना करे कि मैं दैन्यहीन होकर सौ वर्ष जीवन व्यतीत करूँ उसमें निस्सन्देह स्वाभिमान की मात्रा बहुत अधिक होगी। अब कोई

स्वाभिमानी आदमी, जो स्वयं दीनता-प्रकाशन को मनुष्य-जीवन का अभिशाप समझता हो, दूसरे को दीन बना कैसे सकता है ? यदि हम शुद्ध चित्त से अपनी इस महती प्रार्थना के मर्मार्थ पर विचार करें तो स्पष्ट हो जायगा कि जिस ऋषि ने इस महान् संकल्प को नित्य दुहराने की व्यवस्था की थी उसने यह भी सोचा था कि जो लोग ऐसी प्रार्थना करेंगे वे दूसरे को दीन नहीं बनायेंगे। शोषण और परपीड़न के पाप की ओर उनकी दृष्टि नहीं जायगी।

पर हुआ उलटा। लोग प्रार्थना भी करते रहे और शोषण और पर पीड़न का चक्का भी चलता रहा। प्रार्थना अपने रास्ते चलती गई और दुनिया का व्यवहार अपने रास्ते चलता गया। और अब यह अवस्था हो गई कि हमारे इस मौखिक संकल्प का कोई मूल्य ही नहीं रहा। हमारे देश की औसत आयु घटते-घटते अब बीस वर्ष के आस-पास रह गई है। विचार करने पर मन क्षोभ से भर जाता है। इतने बड़े संकल्प की क्या यही गति होनी चाहिए थी! पर क्षोभ चाहे जितना ही हो वस्तुस्थित यही है। बड़ी बड़ी बातों के घोखने से हम अपने दोषों को नहीं ढँक सकते। हमें सच्चाई अनावृत्त सच्चाई—का साहस पूर्वक सामना करना चाहिए। जिस प्रकार भी हो, हमें अपने नैतिक धरातल को उपर उठाना ही पड़ेगा। भारत वर्ष को अगर सम्मान पूर्वक जीवित रहना है तो उसे अपने काले धब्बों को धो देना पड़ेगा। गाल के जोर से दीवाल नहीं ढहती, निहुरे-निहुरे ऊँट नहीं चुराया जाता चारो ओर भीतर और बाहर के शत्रु हमारी ओर आँख लगाए हुए हैं, दूसरे निश्चिन्त होना चाहें तो हो लें, हम निश्चिन्त नहीं हो सकते।

इस यन्त्र युग में समूह की शक्ति बढ़ी है। हमें कोई ऐसी अवस्था सोचनी पड़ेगी कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जरूरत भर अन्न वस्त्र और शिक्षा मिल जाय और उसे जितने की जरूरत हैं उससे अधिक संग्रह करने का अवसर ही न मिले, जब सामूहिक रूप से ऐसी कोई व्यवस्था

हो जायगी तभी ये छोटी चीजें बड़ी-बड़ी बातों से मनुष्य का ध्यान हटाकर अपनी ओर खींच नहीं सकेंगी। उन बातों को समाज में ठहरने ही नहीं देना चाहिये जो औसत व्यक्ति की चरित्र शक्ति को हीन और दुर्बल बनाती हैं। अब हमारी साधना केवल व्यक्तिगत उपदेश तक सीमित नहीं रहनी चाहिए, हमें सामूहिक रूप से ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि मनुष्य को लोभ-मोह की ओर खींचने वाली शक्तियाँ क्षीणबल हो जाँय।

कहने का मतलब यह है कि इन दिनों केवल व्यक्ति को लोभ-मोह से विरत होने का उपदेश ही काफी नहीं है। लोभ-मोह को प्रश्रय देनेवाली शक्तियों को निःशक्त कर देने की आवश्यकता है। आज जब हम सामूहिक शिक्षा, सामूहिक सुरक्षा आदि की ओर अग्रसर होने को बाध्य हो गये हैं तो हमें सामूहिक रूप से जनता के चरित्र बल को सुरक्षित करने की व्यवस्था भी प्रयत्न पूर्वक करनी होगी!

जब हमारी सम्पूर्ण जनता साहस पूर्वक धर्मानुकूल कार्य करते हुई सौ वर्ष का जीवन पाने की इच्छा करेगी और उसके चरित्र-बल को दुर्बल बनाने वाली सामाजिक शक्तियां क्षीण हो जायगी तब हमारा नैतिक धरातल ऊँचा होगा। तभी समग्र देश का मंगल होगा और हमारे देशवासी न केवल स्वयं कर्ममय जीवन यापन करेंगे; वे सारे जगत् को इस प्रकार के जीवन की ओर उद्बुद्ध करेंगे। तभी वैदिक ऋषि की सिखाई हुई यह प्रार्थना फलवती होगी—

ओउम् तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम् ॥
श्रृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः ।
स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥

य० अ० ३६। मं २४ ॥

[हे सूर्यवत् प्रकाशक परमेश्वर आप विद्वानों के हितकारी, शुद्ध, नेत्रतुल्य सबके दिखानेवाले, अनादिकाल से अच्छी तरह सबके ज्ञाता हैं, उस आपको हम सौ वर्ष तक ज्ञान द्वारा देखें और आपकी कृपा से सौ वर्ष तक जीवें। सौ वर्ष तक सच्छास्त्रों को सुनें। सौ वर्ष पर्यन्त पढ़ावें वा उपदेश करें और सौ वर्ष तक दीनता-रहित हों और सौ वर्ष से अधिक भी (देखें, जीवें सुनें, और अदीन रहें) |

ओउम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः !

—❀—

बापू की स्मृति

काका साहब कालेलकर

मुझे पहले-पहल गाँधीजी के दर्शन शांति निकेतन में हुए। मैं कविवर रविन्द्रनाथ ठाकुर को एक देश-भक्त और भारत की संस्कृति का उत्ताम प्रतिनिधि मानता था, इसलिए समीप रहने से उनसे कुछ न-कुछ प्राप्त ही होगा, विचार कर शांति निकेतन गया था।

इससे पहले मैं कम से कम कपड़े पहनकर, साधु संतों की तरह हिमालय में घूमा था। पैदल ही लगभग २,५०० मील की यात्रा भी की थी। कितने ही साधुओं एवं योगियों के सम्पर्क में आया, उनके साथ अनेक वर्तालाप हुए थे, किन्तु कहीं भी संतोष नहीं मिला था।

मुझे एक तरफ तो स्वराज्य का दृढ़ संकल्प था और इसके लिए जो जरूरी राजनीति थी, वह मैं समझता था। वैसा करने के लिए तैयार भी था, पर दूसरी तरफ मुझमें आध्यात्मिकता की भी भूख थी, भक्ति-मार्ग के प्रति आकर्षण था। मैं समझता था कि राजनीति और अध्यात्म इन दोनों बातों का समन्वय नहीं हो सकता। कोई मार्ग बतानेवाला भी नहीं था। इसलिये मैं हैरान था परेशान रहा करता था।

शांतिनिकेतन में महात्माजी के आश्रम के कितने ही लोग पहले से आकर रह रहे थे। उनके साथ मेरा निकट का परिचय हुआ। उसके बाद महात्माजी वहाँ आये। उन दिनों उन्हें लोग 'महात्मा' नहीं 'कर्मवीर' कहा करते थे। वे वहाँ आठ दिन रहे। इन दिनों उनके पास अवकाश भी था। मैंने उस समय का लाभ उठाया और आठ दिनों तक उनके पास बैठकर अनेक प्रकार के प्रश्न पूछे-आध्यात्मिक, राजकीय, आरोग्य सम्बन्धी, प्रत्येक प्रकार के प्रश्न पूछे, चर्चाएँ कीं। अन्त में विश्वास हुआ

कि यही एक ऐसा मानव है, जिसने समस्त जीवन का सम्पूर्ण विकास किया है और उसे भगवद्-भक्ति में लगा दिया है। उन्होंने मेरी व्यग्रता को दूर किया। उन्होंने कहा कि राजनीति में भी आध्यात्मिकता प्रकट हो सकती है। यही नहीं, उसे वहाँ प्रकट करना जरूरी भी है। उन्होंने कुछ इस प्रकार कहा; "मैं मोक्ष की प्राप्ति के लिए राजनीतिक कार्य करता हूँ। प्रत्येक युग में अधर्म अपना अड्डा जमाने के लिए कोई खास जगह पसन्द कर लेता है और उसमें पूर्णतया व्याप्त हो जाता है। आज के जमाने में अधर्म राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश कर बैठा है। वहाँ से उसे हटाकर धर्म को प्रस्थापित करना है। यदि मैं इस कार्य को न कर सका तो मुझे मोक्ष नहीं मिल सकता। यह ईश्वर का दिया कार्य है"

इसप्रकार वे सारे कार्य ईश्वर के ही कार्य समझकर करते थे उनकी सारी श्रद्धा भगवान् पर थी। उनकी तीव्र ईश्वर-निष्ठा का एक प्रसंग याद आ रहा है। हम दक्षिण भारत में खादी-यात्रा कार्य से घूम रहे थे। चिकाकोल (आंध्र) खादी का अच्छा केन्द्र है। हम वहाँ साँझ के सात बजे पहुँचनेवाले थे, किन्तु दस बजे पहुँचे। गाँधीजी को सूतकताई का प्रदर्शन कराने के लिये बेचारी बहनें तीन घण्टे बैठी रहीं। अतः इस गाँव में पहुँचते ही गाँधीजी सीधे उस स्थान के लिए चल पड़े, जहाँ सूतकताई का प्रदर्शन होनेवाला था। महादेव भाई और मैं डेरे पर चले गये। हम सब अत्यधिक थक चुके थे, अतः तुरन्त ही सो गये।

सुबह चार बजे हम सब प्रार्थना के लिए एकत्र हुए तब बापूजी ने पूछा—"महादेव, कल प्रार्थना का क्या हुआ?" मेरा हृदय एकदम बैठ गया। महादेव भाई के चुप रहने पर मैंने कहा—"मैं तो जैसे ही आया, सो गया। प्रार्थना करना ही भूल गया" महादेव भाई ने कहा—"मैं भी भूल गया था, किन्तु एक नींद पूरी करने के बाद जब नींद टूटी तब बैठ गया और बिस्तरे पर मन-ही-मन प्रार्थना करके सो गया था। काका को नहीं जगाया।"

बापू ने कहा - "रात में मैं भी प्रार्थना करना भूल गया। थकावट अधिक होने के कारण मैं भी सो गया। जब तीन बजे उठा तब याद आया। तभी से शरीर कांप रहा है। मैं बहुत ही अस्वस्थ हूँ। सोचता हूँ कि ऐसा कैसे हुआ ? भगवान् को मैं कैसे भूल गया ? जो मेरी प्रत्येक श्वास का मालिक है, जिसके आधार पर मेरा सब कुछ चल रहा है, उसे ही मैं निद्रा के लिए भूल जाऊँ, तो मैं क्या काम कर सकूँगा ? मैं उसकी प्रार्थना करना क्योंकर भूल गया ?'

हम लोगों ने प्रार्थना कर ली और अपने-अपने कार्यों में लग गये। अवकाश तो महात्माजी को भाग्य ही से मिलता था। जब वह भोजन के लिये बैठे, तब मैंने पूछा —'बापूजी एक बात कहूँ ?"

हँसकर उन्होंने कहा—"कहो।"

मैंने बताया—' एक मुस्लिम संत थे। बहुत ही ईश्वर भक्त ! दिन में पाँच बार प्रार्थना करते थे। एक दिन वह बहुत थके थे और सो गये। जब प्रार्थना का समय हुआ, तब किसी ने आकर उन्हें जगाया— 'उठो, उठो ! प्रार्थना का समय हो गया हैं।' वह उठे और उसका उपकार मानते हुए बोले—'भाई, आपने तो मेरा बहुत बड़ा काम किया है। मेरी प्रार्थना रह जाती तो क्या होता ? आपका नाम ?'

उसने कहा—' मेरा नाम है अिब्लिस (शैतान)।"

सत को आश्चर्य हुआ। वह बोल उठे "शैतान ! अरे ! तुम्हारा काम तो लोगों को प्रार्थना करने से रोकने का है धर्म करने में हानि या वाधा पहुँचाने का है और मुझे तुम प्रार्थना के लिए क्यों जगाने आये ?"

शैतान बोला—' इसमें भी मेरा मकसद था, मेरा लाभ था। एक बार पहले भी आप इसी प्रकार सो गये थे। प्रार्थना का समय बीत चुका। मैं बहुत प्रसन्न था। लेकिन जब आप जागे, तब पछताये। रोये और इतने अधिक दुखी हुए कि ईश्वर के ज्यादह प्यारे बन गये। प्रार्थना न करने का पाप तो पछतावे में घुलकर साफ हो गया। इसलिए मैंने विचार किया कि फिर से ऐसा न हो और ईश्वर के तुम और अधिक

प्यारे न बन जाओ, इससे अच्छा तो यही है कि प्रार्थना के समय मैं तुम्हें जगा दूँ।"

बापू ने बातें सुन लीं, बोले —"अपनी भूल के लिए हृदय से किया हुआ पछतावा ईश्वर के प्रेम का कारण है।"

सन् '९१४ से लेकर अंत तक मैंने महात्माजी का जीवन देखा है! उनका ईश्वर ध्यान और चिंतन देखा है। कभी भी, एक मुहूर्त के लिए भी, उसने विघ्न नहीं पड़ा। मैंने उनमें पैरों से माथे तक भगवत् भक्ति देखी है कभी भी उन्होंने प्रार्थना को अधिक समय नहीं दिया, तो कभी भी कम समय नहीं दिया है! निश्चित समय में सबके साथ प्रार्थना करने के लिए बैठते थे और उसमें तल्लीन हो जाते थे। प्रार्थना पूरी हुई नहीं कि फिर से कार्य में लग जाते थे।

"यह काम भी भगवान् का ही काम है, 'काम' में से समय चोरीकर 'नाम' में लगाने से भगवान् नाराज होंगे"—ऐसा मानकर ही वह सारे कार्य करते थे।

———

कविता की उपयोगिता

रामचन्द्र शुक्ल

यदि क्रोध, करुणा, दया, प्रेम आदि मनोभाव मनुष्य के अंतःकरण से निकल जायँ तो वह कुछ नहीं कर सकता। कविता हमारे मनोभावों को उच्छ्वसित करके हमारे जीवन में एक नया जीवन डाल देती हैं, हम सृष्टि के सौन्दर्य को देखकर मोहित होने लगते हैं, कोई अनुचित या निष्ठुर काम हमें असह्य होने लगता है. हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना अधिक होकर समस्त संसार में व्याप्त हो गया है। इस प्रकार कविता की प्रेरणासे कार्य में प्रवृत्ति बढ़ जाती है। केवल विवेचना के बल से हम किसी कार्य में बहुत कम प्रवृत्त होते हैं केवल इस बातको जानकर ही हम किसी काम के करने या न करने के लिए प्रायः तैयार नहीं होते कि वह काम अच्छा है या बुरा, लाभदायक है या हानि-कारक। जब उसकी या उसके परिणाम की कोई ऐसी बात हमारे सामने उपस्थित हो जाती है जो हमें आह्लाद, क्रोध, करुणा आदि से विचलित कर देती है तभी हम उस काम को करने या न करनेको प्रस्तुत होते हैं. केवल बुद्धि हमें करने के लिए उत्तेजित नहीं करती। काम करने के लिए मन ही हमको उत्साहित करता है। अतः कार्य-प्रवृत्ति के लिए मनमें वेगका आना आवश्यक है। यदि किसी जन-समुदायके बीच कहा जाय कि अमुक देश तुम्हारा इतना रुपया प्रतिवर्ष उठा ले जाता है, इसी से तुम्हारे यहाँ अकाल और दारिद्रय बढ़ रहा है तो सम्भव है कि उस पर कुछ प्रभाव न पड़े। पर यदि दारिद्रय और अकाल का भीषण दृश्य दिखाया जाय, पेट की ज्वाला से जले हुए प्राणियों के अस्थि-पंजर कल्पनाके सम्मुख रखे जायं और भूख से तड़पते हुए बालकोंके पास बैठी हुई माताका आर्त स्वर सुनाया जाय तो बहुत

से लोग क्रोध और करुणा से विह्वल हो उठेंगे और इन बातों को दूर करने का यदि उपाय नहीं तो संकल्प अवश्य करेंगे। पहले प्रकार की बात करना राजनीतिज्ञ का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य दिखाना कवि का कर्त्तव्य है। मानव-चित्त पर दोनोंमें से किसका अधिकार अधिक हो सकता है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं।

स्वभाव-सशोधन

कविता के द्वारा हम संसार के सुख, दुःख, आनन्द और क्लेश आदि का यथार्थ रूप से अनुभव करने में अभ्यस्त होते हैं जिससे हृदय की स्तब्धता हटती है और मनुष्यता आती है। किसी लोभी और कंजूस दूकानदार को देखिए जिसने लोभके वशीभूत होकर, क्रोध, दया, भक्ति, आत्मभिमान आदि मनोविकारों को दबा दिया है और संसार के सब सुखों से मुख मोड़ लिया है, अथवा किसी महा क्रूर-राज कर्मचारी के पास जाइये जिसका हृदय पत्थर के समान जड़ और कठोर हो गया है, जिसे दूसरे के दुःख और क्लेश का अनुभव स्वप्न में भी नहीं होता। ऐसा करने से आपके मन में यह प्रश्न अवश्य उठेगा कि क्या इनकी भी कोई दवा है? ऐसे हृदयों को द्रवीभूत करके उन्हें अपने स्वाभाविक धर्म पर लाने की सामर्थ्य काव्य ही में है। कविता ही उस दुकानदार की प्रवृत्ति को भौतिक और आध्यात्मिक सृष्टि के सौन्दर्य की ओर ले जायगी कविता ही उसका ध्यान औरों की आवश्यकताओं की ओर आकर्षित करेगी और उनकी पूर्ति करने की इच्छा उत्पन्न करेगी, कविता ही उसे उचित अवसर पर क्रोध, दया, भक्ति, आत्माभिमान आदि सिखावेगी। इसी प्रकार उस राजकर्मचारी के सामने कविता ही उसके कार्यों का प्रतिबिम्ब खींचकर रखेगी और उनकी जघन्यता और भयंकरता का आभास दिखलावेगी तथा दैवी किंवा अन्य मनुष्यों द्वारा पहुँचाई हुई पीड़ा और क्लेश के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश को दिखलाकर उसे दया दिखाने का अभ्यास करायेगी।

मनोरंजन

प्राय: लोग कहा करते हैं कि काव्य का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन है। पर मेरी समझ में केवल मनोरंजन उसका साध्य नहीं है। कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है, पर उसके उपरान्त कुछ और भी होता है। मनोरंजन करना कविता का वह प्रधान गुण है जिससे वह मनुष्य के चित्त को अपना प्रभाव जमाने के लिए वश में किये रहती है, उसे इधर-उधर जाने नहीं देती। यही कारण है कि नीति और धर्म सम्बन्धी उपदेश चित्त पर वैसा असर नहीं करते जैसा कि काव्य या उपन्यास से निकली हुई शिक्षा असर करती है। केवल यही कहकर कि 'परोपकार करो", "सदैव सच बोलो". "चोरी करना महापाप है" हम यह आशा कदापि नहीं कर सकते कि कोई अपराधी मनुष्य परोपकारी हो जायगा, झूठा सच्चा हो जायगा और चोर चोरी करना छोड़ देगा, क्योंकि पहले तो मनुष्य का चित्त ऐसी सूखी शिक्षायें ग्रहण करने के लिए उद्यम नहीं होता, दूसरे मानव जीवन पर उनका कोई प्रभाव अँकित न देखकर वह उनकी कुछ परवाह नहीं करता। कविता अपनी मनोरंजन शक्ति के द्वारा पढ़ने सुननेवाले का चित्त उचटने नहीं देती, उसके हृदय के मर्मस्थानों का स्पर्श करती है और सृष्टि में उक्त कर्मों के स्थान और सम्बन्ध की सूचना देकर मानव-जीवन पर उनके प्रभाव और परिमाण विस्तृत रूप से अंकित करके दिखलाती है। इन्द्रासन खाली कराने का बचन देकर यमराज का स्मरण दिलाकर दोजख की जलती हुई आग की धमकी देकर हम बहुधा किसी मनुष्य को सदाचारी और कर्तव्यपरायण नहीं बना सकते। बात यह है कि इस तरह का लालच या धमकी ऐसी है जिससे मनुष्य परिचित नहीं और जो इतनी दूर की है कि उसकी परवा करना मानव प्रकृति के विरुद्ध है। सदाचार में एक अलौकिक सौंदर्य और माधुर्य होता है। अत: लोगों को सदाचार की ओर आकर्षित करने का प्रमुख उपाय यही है कि उनको उसका सौंदर्य और माधुर्य

दिखाकर लुभाया जाय, जिससे वे बिना आगा-पीछा सोचे मोहित होकर उसकी ओर ढल पड़ें।

मन को अनुरंजित करना और उसे सुख पहुँचाना ही यदि कविता का धर्म माना जाय तो कविता भी केवल विलास की सामग्री हुई। परन्तु क्या हम कह सकते हैं कि बाल्मीकि का आदि काव्य, कालिदास का मेघ-दूत, तुलसीदास का रामचरितमानस या सूरदास का सूरसागर विलासकी सामग्री है? इन ग्रन्थों से मनोरंजन होगा तो चरित्र संशोधन भी अवश्य होगा। मन लगने से यह सूचित होगा कि मन अब इस अवस्था में हो गया है कि उसपर कोई प्रभाव डाला जाय। खेद के साथ कहना पड़ना है कि हिन्दी भाषा के अनेक कवियों ने शृंगार रस की उन्माद-कारिणी उक्तियों से साहित्य को इतना भर दिया है कि कविता भीविलास की एक सामग्री समझी जाने लगी है। पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुसखे भी कवि लोग तैयार करने लगे। गरमी के मौसम के लिए एक कविजी आज्ञा करते हैं—

सीतल गुलाबजल भरि चहबच्चन में
डार के कमलदल न्हायबे को धसिए।
कालिदास अंग-अंग अगर अतर संग,
केशर उसीर नीर घनसार घँसिए।
जेठ में गोविंदलाल चन्दन के चहलन,
भरि-भरि गोकुल के महलन बसिए।

ऐसी शृंगारिक कविता को कोई विलास की सामग्री कह बैठे तो उसका क्या दोष? सारांश यह कि कविता का काम मनोरंजन ही नहीं कुछ और भी है

चरित्र-चित्रण द्वारा जितनी सुगमता से शिक्षा दी जा सकती हैउतनी सुगमता से किसी और उपाय द्वारा नहीं।

आदिकाव्य रामायण में जब हम भगवान् रामचन्द्र के प्रतिज्ञा पालन सत्यव्रताचरण और पितृभक्ति आदि की छटा देखते हैं भरत के सर्वोच्च स्वार्थत्याग और सर्वाङ्गपूर्ण सात्वक चरित का आलौकिक तेज देखते हैं

तब हमारा हृदय श्रद्धा, भक्ति और आश्चर्य से स्तंभित हो जाता है। इसके विरुद्ध जब हम रावण की दुष्टता और उद्दण्डता का चित्र देखते हैं तब समझते हैं कि दुष्टता क्या चीज है और उसका प्रभाव और परिणाम सृष्टि में क्या है अब देखिए, कविता द्वारा कितना उपकार होता है। उसका काम भक्ति श्रद्धा दया, करुणा, क्रोध, प्रेम आदि मनोवेगों को तीव्र और परमार्जित करना तथा सृष्टि की वस्तुओं और व्यापारों से उनका उचित और उपयुक्त सम्बन्ध स्थिर करना है।

उच्च आदर्श

कविता मनुष्य के हृदय को उन्नत करती है और ऐसे उत्कृष्ट और अलौकिक पदार्थों का परिचय कराती है जिनके द्वारा यह लोक देवलोक और मनुष्य देवता हो सकता है।

कविता की आवश्यकता

कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य और असभ्य सभी जातियों में पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो पर कविता अवश्य होगी। इसका क्या कारण है? बात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा घना मण्डल बाँधता चला आ रहा है जिसके भीतर फँसकर वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का सम्बन्ध कभी-कभी नहीं रख सकता। इस बात से मनुष्यता की मनुष्यता जाती रहने का डर रहता है। अतएव मानुषी प्रकृति को जाग्रत रखने के लिए कविता मनुष्य-जाति के संग लग गई है। कविता यही प्रयत्न करती है कि शेष प्रकृति से मनुष्य की दृष्टि गिरने न पावे। जानवरों को इसकी बड़ी जरूरत नहीं। हमने किसी उपन्यास में पढ़ा है कि एक चिड़चिड़ा बनिया अपनी सुशीला और परम रूपवती बधू को अकारण निकालने को उद्यत हुआ। जब उसके पुत्र ने अपनी स्त्री की ओर से कुछ कहा तो वह चिढ़कर बोला — "चल चल! भोली सूरत पर मरा जाता है।" आह! यह कैसा अमानुषिक बर्ताव है। संसारिक बंधनों में फँसकर मनुष्य का हृदय कभी-कभी इतना कठोर और कुन्ठित हो जाता है कि उसकी

चेतनता—उसका मानुषीभाव कम हो जाता है न उसे किसी का रूप माधुर्य देखकर उस पर उपकार करने की इच्छा होती है, न उसे अपमान सूचक बातें सुनकर क्रोध आता है। ऐसे लोगों से यदि किसी लोमहर्षक अत्याचार की बात कही जाय तो मनुष्य के स्वाभाविक धर्मानुसार वे क्रोध या घृणा प्रकट करने के स्थान पर रुखाइ के साथ यही कहेंगे—"जाने दो, हमसे क्या मतलब ? चलो, अपना काम देखो।" याद रखिए, यह महा भयानक मानसिक रोग है, इससे मनुष्य जीते जी मृत हो जाता है। कविता इसी मर्ज की दवा है।

सृष्टि-सौंदर्य

कविता सृष्टि-सौंदर्य का अनुभव कराती है और मनुष्य को सुन्दर वस्तुओं में अनुरक्त कुत्सित वस्तुओं से विरक्त करती है कविता जिस प्रकार विकसित कमल, रमणी के मुख आदि का सौंदय चित्र में अंकित करती है उसी प्रकार सौंदर्य, वीरता, त्याग, दया इत्यादि का सौंदर्य भी दिखाता है। जिस प्रकार वह रौरव नरक और गंदी गलियों की बीभत्सता दिखाती है उसी प्रकार क्रूरों की हिंसावृत्ति और दुष्टों की ईर्ष्या आदि को जघन्यता भी। यहीं तक नहीं, निज वृत्तियों का प्रायः बुरा रूप ही हम ससार में देखा करते हैं उनका सुन्दर रूप भी वह अलग करके दिखाती है। जो दशवदन-निधनकारी राम के क्रोध के सौंदर्य पर हमें आह्लादित करती है वही उनके अंतःकरण की सुंदरता और कोमलता आदि की मनोहारिणी छाया दिखाकर मुग्ध भी करती हैं। जिस बंकिम की लेखनी ने गढ़ के ऊपर बैठी हुई राजकुमारी तिलोत्तमा के अंग-प्रत्यंग की शोभा को अंकित किया है उसी ने आयशा के अंतःकरण की अपूर्व सात्विक ज्योति दिखाकर पाठकों को चमत्कृत किया है। बाह्यसौंदर्य के अवलोकन से हमारी आत्मा को जिस प्रकार संतोष होता है उसी प्रकार मानसिक सौंदर्य से भी। जिस प्रकार वन, नदी, पर्वत, झरने आदि से हम आह्लादित होते हैं उसी प्रकार मानसिक अंतःकरण में प्रेम, स्वार्थत्याग, दया, दाक्षिण्य, करुणा, भक्ति आदि उदारवृत्तियों को प्रतिबिंबित देख हम आनंदित

होते हैं यदि इन दोनों वाह्य और आभ्यन्तर सौंदर्य का संयोग कहीं दिखाई पड़े तो फिर क्या कहना है ? यदि किसी अत्यंत सुन्दर पुरुष या अत्यन्त रूपवती स्त्री के रूप मात्र का वर्णन करके हम छोड़ दें तो चित्र अपूर्ण होगा; किन्तु यदि हम साथ ही हृदय की दृढ़ता और सत्यप्रियता अथवा कोमलता और स्नेह-शीतलता आदि की भी झलक दिखायें तो उस वर्णन में सजीवता आ जायगी।

बात यह है कि कविता, सौंदर्य और सात्विकशीलता या कर्तव्य परायणता में भेद नहीं देखना चाहती। इसी से उत्कर्ष-साधन के लिये कवियों ने प्रायः रूप-सौंदर्य और अन्तःकरण के सौंदर्य का मेल कराया है। राम का रूप-माधुर्य और रावण का विकराल रूप अंतःकरण के प्रतिबिम्ब मात्र हैं। बाह्य प्रकृति को भी मिला लेने से वर्णन का प्रभाव कभी-कभी बहुत बढ़ जाता है। चित्रकूट ऐसे रम्य स्थान में राम और भरत ऐसे रूपवानों के रम्य अन्तःकरण की छटा का क्या कहना है।

कविता का दुरुपयोग

जो लोग स्वार्थवश व्यर्थ की प्रशंसा और खुशामद करके वाणी का दुरुपयोग करते है वे सरस्वती का गला घोंटते हैं। ऐसी तुच्छ वृत्ति वालों को कविता न करनी चाहिए। कविता का उच्चाशय उदार और निःस्वार्थ हृदय की उपज है। सत्य कवि मनुष्य मात्र के हृदय में सौंदर्य का प्रवाह बहाने वाला होता है। उसकी दृष्टि में राजा और रंक सब समान हैं। वह उन्हें मनुष्य के सिवा और कुछ नहीं समझता। जिस प्रकार महल में रहनेवाले बादशाह के वास्तविक सद्गुणों को वह प्रशंसा करता है उसी प्रकार झोपड़े में रहनेवाले किसान के सद्गुणों की भी श्रीमानों के शुभागमन की कविता लिखना और बात बात पर उनको बधाई देना सत्य कवि का काम नहीं। हाँ, जिसने निःस्वार्थ होकर और कष्ट सहकर देश और समाज की सेवा की है, दूसरों का हित साधन किया है, धर्म का पालन किया है ऐसे परोपकारी महात्मा का गुणगान करना उसका कर्तव्य है।

सागर और मेघ

रायकृष्णदास

सागर--मेरे हृदय में मोती भरे हैं।

मेघ--हाँ वे ही मोती जिनका कारण हैं मेरी बूँदें।

सागर--हाँ, हाँ वही वारि जो मुझसे हर लिया जाता है। चोरी का गर्व ?

मेघ--हाँ, हाँ, वही जिसको मुझसे पाकर बरसातकी उमड़ी नदियाँ तुझे भरती हैं।

सागर--बहुत ठीक, क्या आठ महीने नदियाँ मुझे कर नहीं देतीं।

मेघ (मुस्कुराया)-- अच्छा याद दिलाई मेरा बहुत-सा दान वे पृथ्वी के पास धरोहर रख छोड़ती हैं, उसी से कर देने की निरन्तरता कायम रहती है।

सागर--वाष्पमय शरीर ? क्या बढ़ बढ़कर बातें करता है अंतको तुझे नीचे गिर कर मुझीमें मिलना पड़ेगा।

मेघ--खार की खान ! संसार भर से नीच ! सारी पृथ्वी का विकार तुझे मैं शुद्ध और मिष्ठ बनाकर उच्चतम स्थान देता हूँ फिर तुझे अमृत वारि धारा से तृप्त और शीतल करता हूँ। उसी का यह फल है।

सागर--हां, हाँ दूसरे की करतूत पर गर्व। सूर्य का यश अपने पल्ले।

बादल (अट्टहास लगाता है)--क्यों, मैं चार महीने सूर्य को विश्राम जो देता हूँ ! वह उसी के विनिमय में यह करता है। उसका यह कर्म मेरी सम्पत्ति है। वह तो बदले में केवल विश्राम का भागी है।

सागर--और मैं जो रोज उसे विश्राम देता हूँ।

मेघ--उसके बदले तो वह तेरा जल शोषण करता है।

सागर · तब भी मैं अपना व्रत नहीं छोड़ता।

मेघ –' इठलाकर · धन्य रे व्रता ! मानो श्रद्धापूर्वक तू सूर्य को वह दान देता हो। क्या तेरा जल वह हठात् नहीं हरता।

सागर–– गम्भीरता से और वाड़व जो मुझे नित्य जलाया करता है तो भी मैं उसे छाती पर लगाये रहता हूँ। तनिक उसपर ध्यान दो।

मेघ––(मुस्करा दिया) हां उसमें तेरा और कुछ नहीं शुद्ध स्वार्थ है। क्योंकि वह तुझे जलाती न रहे तो तेरी मर्यादा न रह जाय।

सागर––' गरजकर तो उसमें तेरी क्या हानि। हाँ प्रलय अवश्य हो जाय।

मेघ––(एक साँस लेकर आः। यह हिंसा वृत्ति। और क्या मर्यादा नाश क्या कोई साधारण बात है ?

सागर—हो, हुआ करे मेरा आयास तो बढ जायगा।

मेघ –आः उच्छृङ्खलता की इतनी बड़ाई ?

सागर—अपनी ओर तो देख, जो बादल होकर आकाश भर में इधर से उधर मारा-मारा फिरना है।

मेघ––धन्य तुम्हारा ज्ञान ! मैं यदि सारे आकाश में घूम-फिर के संसारका निरीक्षण न करूँ और जहाँ आवश्यकता हो जीवन-दान न करूँ तो रसा नीरसा हो जाय उवरा से बन्ध्या हो जाय। तू नीचे रहने वाला हम ऊपर रहनेवालों के इस तत्व को क्या जाने ?

सागर—यदि तू मेरे लिए ऊपर है तो मैं भी तेरे लिए ऊपर हूँ, क्योंकि हम दोनों का आकाश एक ही है

मेघ हाँ ! निस्सन्देह ऐसी दलील वे ही लोग कर सकते हैं जिनके हृदय मे कंकड़ पत्थर और शख घोंघे भरे हैं।

सागर––बलिहारी तुम्हारी बुद्धि की, जो रत्नों को कंकड़-पत्थर और मोतियों को सीप घोंघे समझती है।

मेघ––(बड़े वेग से गड़गड़ करके हँसता हुआ तुम्हारे रत्न तो

तुम्हें मथकर कभी के देवताओं ने निकाल लिए। अब तुम इन्हीं को रत्न समझे बैठे हो।

सागर--और मनुष्य जो इन्हें निकालने के लिए इतना श्रम करते हैं तथा इतने प्राण खोते हैं ?

मेघ--ये अमीरों की झूठी श्रद्धा करने में मरे जाते हैं।

सागर--अच्छा ! जिनका स्वरूप प्रति क्षण बदला करती है उनकी दलील का कोटि-क्रम ऐसा ही होता है।

मेघ--और जो क्षण भर भी स्थिर नहीं रह सकते उनकी तर्कना का नमूना तुम्हारी बाते है, क्यों न ?

सागर--अरे, अपनी सीमा में रमने की मौज को अस्थिरता समझने वाले मूर्ख ! तू ढेर-सा हल्ला ही करना जानता है कि...

मेघ--हाँ, मैं गरजता हूँ तो बरसता भी हूँ ! तू तो ---

सागर--यह भी क्यों नहीं कहता कि वज्र भी निपतित करता हूँ।

बादल--हाँ आततायियों को समुचित दण्ड देने के लिए।

सागर--कि स्वतन्त्रों का पक्ष-छेदन करके उन्हें अचल बनाने के लिए ?

बादल--हाँ, तू संसार को दलित करनेवाले उच्छृङ्खलों का पक्ष क्यों लेगा, तू तो उन्हें छिपाता है न !

सागर--मैं दीनों का शरण अवश्य हूँ !

बादल--सच है, अपराधियों के संगी ! यह दीनों की सहायता है कि संसार की विपत्तियों और उपाधियों को जगह देन, संसार को सदैव भ्रम में डाले रहना।

सागर--दण्ड उतना ही होना चाहिए कि दण्डित चेत जाय, उसे त्रास हो जाय। अगर वह वह अपाहिज हो गया तो....!

बादल--हाँ यह भी कोई नीति है कि आततायी नित्य अपना सिर उठाना चाहे और शास्ता उसी की चिन्ता में नित्य शस्त्र लिए खड़ा रहे, अपने राज्य की कोई उन्नति न करने पावे।

सागर एक छोटे से मैनाक की इतने बड़े विश्व में क्या गिनती।

बादल--जो अम्ल की एक बूँद की मनों दूध में। तू इस क्षात्र धर्म की सूक्ष्मता को क्या समझे?

सागर-- और तूने हाथ में नर-कंकाल का एक टुकड़ा ले लिया कि बडा वृहस्पति बन बैठा।

बादल आः! सुरराज के शस्त्र की यह अवमानना। तू तो साठ हजार भृत्यों का द्रव है।

सागर--तो क्या यह बात भी सत्य नहीं कि वज्र की रचना के लिए एक तपस्वी की हत्या कराई गई।

बादल हाँ, कुलिश ने अपनी उत्पत्ति से दधीचि की तपस्या सफल कर दी थी।

सागर--तुम लोग जान लेना कोई बात ही नहीं समझते।

बादल--हम हत्या, वध, आत्मदमन, बलिदान, हिंसा, नाश आदि का विभेद जानते हैं। इन गहन विषयों को तू क्या समझे?

सागर-- मैं हत्यारों से बात नहीं करना चाहता।

बादल--और मैं न दुर्बल हृदय वालों से बात नहीं करना चाहता जो कायरता और कापुरुषता को धर्मभीरुता मानते हैं।

हा मेघिके

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के प्रकृति प्रेम से सारा हिंदी-संसार परिचित है। यह प्रकृति-प्रेम उनके जीवन का बहुत ही आवश्यक तत्व था। नागरिक जीवन की पंकिलता से निकलकर और प्रकृति की विशद भूमिका में पहुंचकर वे किस प्रकार अपने हृदय का तादात्म्य प्रकृति के साथ स्थापित किया करते थे इसे उनके निकट रहनेवाले लोग ही भली-भाँति जानते हैं। अपने देहावसान के पूर्व शुक्ल जी हिंदी-विभाग के अपने सहयोगियों सहित विध्य में अटन करने के लिए गये हुये थे। यद्यपि वे जीवन भर प्रकृति के नूतन रूपों के साक्षात्कार में सलग्न रहे और उसके अनेक रूपों के दर्शन किये भी, पर उनके हृदय को तृप्ति नहीं हुई थी। वन्य जीवन व्यतीत करने वालों के मना करने पर भी जो अमरकंटक के सिंह-भल्लूकादि से भरे सघन वनों में प्रविष्ट हुआ हो, ऐसी गहनता में जहाँ दिन में ही रात्रि का आभास मिलता है, जो कालिदास के मेघदूत में संनिविष्ट प्राकृतिक प्रदेशों की, पुस्तक में उल्लिखित क्रम से, यात्रा करने से निकला हो, जो पूर्णिमा की चाँदनी में निशीथ को छटा देखने के लिए हिंस्र जंतुओं की कुछ भी चिंता न करके रमा रहा हो, यदि वह प्रकृति की नवीन विभूति देखने के लिए बहुत कुछ देख लेने पर भी, लालायित रहा हो तो स्वाभाविक ही है।

इस बार प्रकृति की नूतन रूपराशि का अवलोकन करने के लिए शुक्ल जी अपनी मंडली के साथ विध्य की ऐसी उपत्यका में धँसे, जहाँ वे कभी नहीं गये थे। वहाँ पहुँचकर उन्हें जैसा कुतूहल हुआ वैसा कभी नहीं हुआ था। उपत्यका के छोटे-छोटे चक्करदार नालों और उसके मध्य में लेटी हुई स्रोतस्वती के दोनों तटों पर, मेहदी के असंख्य झाड़

खड़े थे। इन पौधों की व.लता ने औरों का ध्यान ही आकृष्ट किया, पर शुक्ल जी को आश्चर्य में डाल दिया। उनकी धारणा थी कि बिलोचिस्तान के जंगलों में ही मेंहदी स्वतः उत्पन्न होती है और वही से यह भारत में मुसलमानों के साथ आई है तथा बाग बगीचों में लगाई जाती है। विंध्याचल से अष्टभुजी जाते समय मध्य मार्ग में जो नाला पड़ता है वहीं पर एक झाड़ उन्हें जंगली रूप में लगा दिखाई पड़ा था जिसे वे अपवाद-स्वरूप या किसी प्रकार लग गया हुआ मानते थे। उस दिन उन्होंने यह घोषणा की कि नहीं, मेंहदी विंध्य में भी स्वतः होती है, वह बिलोचिस्तान से नहीं आई। उन्होंने अपने विस्फारित नेत्रों से भावकोश पं केशव प्रसाद मिश्र जी की ओर देखा और पूछा—"कहिये पंडित जी, संस्कृत में मेंहदी का उल्लेख कहाँ है?" शब्द रत्नाकर मिश्रजी ने तुरत उत्तर दिया—"किसी कोश का टुकड़ा मुझे यों स्मरण है– मेंघिका नख-रजनी।' इसे सुनकर उन्होंने कहा– 'तब तो निश्चय ही यह अपने यहाँ की वस्तु है। मुसलमानों में मेंहदी की कई रस्में हैं अवश्य, पर इसका उपयोग यहाँ के लोग भी अवश्य जानते रहे होंगे। इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी का प्रकृति-प्रेम केवल मनोरंजन के लिए नहीं था, उसमें नूतन अनुसंधान की कामना भी लगी रहती थी। उस उपत्यका का नामकरण उसी दिन से 'मेंघिका' हो गया। शुक्ल जी यहाँ की पुनः यात्रा करने के लिए प्रतिश्रुत हुए थे और अपने सहयोगियों को भी प्रतिश्रुत किया था। पर फिर अवसर न आया, न आया। आज भी 'मेंघिका' की स्मृति वैसी ही हरी-भरी है। उसका नाम ध्यान में चढ़ते ही मन उतर जाता है। वहाँ फिर जाने का साहस हम लोग अब तक न बटोर सके।

वहीं एक और घटना घटित हुई जो शुक्ल जी के उत्फुल्ल मानस का साक्षात् करने के लिए कभी भुलाई नहीं जा सकती। वे तैरना नहीं जानते थे। स्नान करने के लिए जो स्थल चुना गया वह शिलाखंडों से परिपूर्ण था। जल के भीतर तिरछे-बेड़े चित्त-पट्ट पड़े पाषाण-खण्ड प्रवाह में उतरने के लिए मना कर रहे थे। शुक्ल जी अपने पुराने साथी

'पहलवान जी' यही नाम स्मरण रह गया. के सहारे अवगाहन करने के लिए जल में उतरे और डुबकी लगाई डुबकी लगाते ही जल में खड़ी शिला की ओर से उनका माथा जा टकराया। सिर बाहर निकलने पर सारी मंडली ने विषण्ण बदन पे देखा कि उनके ललाट के मध्य में रक्त की धारा फूट निकली है। सबके मुख से 'अरे, की ध्वनि निकल पड़ी पैर उनकी ओर बढ़े और हाथ उपचार करने के लिए व्याकुल हो उठे। करुणाप्लुत केशव जी ने, भावमुग्ध पं० जगन्नाथ प्रसाद जी के पनडब्बे से चूना लेकर घाव भर दिया और लोग डूबे मन से प्रश्न करने लगे कि 'चोट कैसे लगी।' शुक्ल जी ने प्रफुल्ल बदन से उत्तर दिया, 'यह चोट नहीं है प्रकृति देवी के चरणों में मैंने रक्त का अर्घ्य दिया है' लोगों का सारा विषाद उनकी वाग्धारा मे धुल गया। ऐसे प्रकृति-व्यापी मानस ने यदि दूसरोंको साहित्य में फिर से प्रकृति की पूजा के लिए आहुत किया तो उचित ही किया। पश्चिमी यांत्रिक जीवन से कलुषित हृदयवाले भले ही उसे पुरानी बात और अनावश्यक कहकर त्यागने का हाहल्ला मचाये पर सच्चा भारतीय हृदय प्रकृति को त्यागने के लिए कभी तत्पर नहीं है। नागरिक और कृत्रिम आकर्षण पर मरनेवाले अपना मन मार डालें, पर प्रकृति की एकान्त गोद में प्राकृतिक रमणीयता पर निछावर होनेवाले अपना मन बराबर जिलाते आये हैं और जिलाते रहेंगे। जिन्होंने प्रकृति से अपनी आँखे फेर ली हैं, उनकी आँखों में न तो ज्योति ही रह गई है और न मानस में सरसता। विद्युत्-प्रकाश ने उनकी दृष्टि छीन ली है और धूमराशि ने उसका दम घोंट दिया है।

जब जब उस घटना की याद आती है, मानस प्रकृति के प्रति उल्लास से भर जाता है, शुक्ल जी की हँसती जीती-जागती प्रतिमा उसके तट पर खड़ी हो जाती है, नेत्रों से आँसू की धारा उन्हें नहलाने के लिए उमड़ पड़ती है और उस उपत्यका के लिए वाणी फूट पड़ती है—"हाः! मेंधिके!"

समाज और धर्म

सम्पूर्णानन्द

यदि सभी लोग अपने-अपने धर्म का पालन करें तो सभी सुखी और समृद्ध रह सकें; परन्तु आज ऐसा नहीं हो रहा है। धर्म का स्थान गौणातिगौण हो गया है, इसलिए सुख और समृद्धि भी गूलर का फूल हो गयी है। यदि एक सुखी और सम्पन्न है तो पचास दुखी और दरिद्र हैं। साधनों की कमी नहीं है, परन्तु धर्म बुद्धि के विकसित न होने से उनका उपयोग नहीं हो रहा है। कुछ स्वार्थी और युयुत्सु प्रकृति के प्राणी तो स्यात् समाज में सभी कालों में रहे है और रहेंगे; परन्तु आज-कल ऐसी व्यवस्था है कि ऐसे लोगों को अपनी प्रवृत्ति के अनुसार काम करने का खुला अवसर मिल जाता है और उनकी सफलता दूसरों को उनका अनुगामी बना देती है। दूसरी ओर, जो लोग सचमुच सदाचारी हैं, उनके मार्ग में पदे पदे अड़चने पड़ती हैं।

मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुषार्थ मोक्ष है। परन्तु समाज किसी में हठात् आत्म साक्षात्कार की इच्छा उत्पन्न नहीं कर सकता। न कोई योगी बनने के लिए विवश किया जा सकता है न ब्रह्म विवित्सुओं के लिए सार्वजनिक पाठशालाएँ खोली जा सकती हैं। बलात् कोई धर्मात्मा भी नहीं बनाया जा सकता; परन्तु समाज का संव्यूहन ऐसा हो सकता है कि सबके सामने आत्मज्ञान और अभेद दर्शन का आदर्श रहे, वैयक्तिक और सामूहिक जीवन का मूल-मंत्र प्रतिस्पर्द्धा की जगह सहयोग हो और सबको अपनी सहज योग्यताओं के विकास का अवसर मिले। यदि ऐसी

अवस्था हो तो धर्म को स्वतः प्रोत्साहन और मुमुक्षा को अनुकूल वातावरण मिल जायगा इसके साथ ही यह बात भी आप ही हो जायगी कि जिन लोगों की धर्म बुद्धि अभी उद्‌बुद्ध नहीं है, वे समाज की बहुत क्षति न कर सकें।

मनुष्य ने अपने को इतने टुकड़ों में बाँट लिया है कि एकता को कहीं आश्रय नहीं मिलता। जितने टुकड़े हैं, उतने ही पृथक हित हैं और इन हितों की सिद्धि पार्थक्य को उतना ही बढ़ाता है।

उदाहरण के लिए उस टुकड़े को लीजिए जिसको राष्ट्र कहते हैं। हमने अपने को राष्ट्रों में बाँट रखा है और प्रत्येक राष्ट्र अपने को स्वतन्त्र, प्रभुराज्य के रूप में स्थित देखना चाहता है। दो मनुष्य एक ही विचार रखते हैं; एक ही संस्कृति के उपासक हैं, एक को दूसरे से कोई द्वेष नहीं हैं, फिर भी विभिन्न राष्ट्रों के सदस्य होने के कारण उनके हित टकराते हैं। एक को दूसरे से लड़ना पड़ता है, एक को दूसरे के बाल-बच्चों को भूखों मारना पड़ता है। व्यक्ति को दास बनाना बुरा समझा जाता है; परन्तु समूचे राष्ट्र को दास बनाना, समूचे राष्ट्र के जीवन को अपनी इच्छा के अनुसार चलाना, समूचे राष्ट्र का शोषण करना बुरा नहीं है बलात् दूसरे के घर का प्रबन्ध नहीं किया जा सकता, परन्तु बलात् दूसरे राष्ट्र पर शासन किया जा सकता है राष्ट्रों और राज्यों के परस्पर व्यवहार में सत्य अहिंसा और सहिष्णुता का स्थान नहीं है। जो मनुष्य दूसरे व्यक्ति की एक पाई दबा लेना बुरा समझता है, वह राजपुरुष के पद से दूसरे राष्ट्र का गला घोंट देना निन्द्य नहीं मानता। यह बात श्रेयस्कर नहीं है कुटुम्ब में व्यक्ति होते हैं समाज में राष्ट्र इसी प्रकार रहें! कुछ बातों में अपना अलग जीवन भी बितायें, परन्तु सारे मानव-समाज की एकता सतत सामने रहनी चाहिए। युद्ध और कलह का युग समाप्त होना चाहिए। जो राष्ट्र दूसरे की ओर कुदृष्टि से देखे उसे समुदाय से बहिष्कृत और दंडित होना चाहिए। न्याय और सत्य सामूहिक आचरण के आधार बनाये जा सकते हैं। मानव संस्कृति

एक और अविभाज्य है योगी, कवि, कलाकार और विज्ञानी किसी भी देश के निवासी हों, मनुष्य समाज मात्र की विभूति हैं। इसके साथ ही आर्थिक विभाजन भी समाप्त होना चाहिए। प्रकृति ने जो भोग्य सामग्री प्रदान की है, उसे भी मनुष्यमात्र के उपयोग का साधन मानना उचित है। जबतक मनुष्य अपने देश के बाहर अनजबी समझा जायगा, जबतक वसुन्धरा बलवानों की सम्पत्ति समझी जायगी; जब तक किसी देश को यह अधिकार रहेगा कि वह सामर्थ्य रहते हुए भी दूसरे देशों की आवश्यकता की पूर्ति करे या न करे और करे तो अपनी मनमानी शर्तों पर तबतक मनुष्य-समाज सुखी नहीं हो सकता।

राष्ट्र का भीतरी संव्यूहन ऐसा होना चाहिए जिसमें प्रत्येक मनुष्य को धर्माविरुद्ध अर्थ और काम की निर्बाध प्राप्ति हो सके यह तभी हो सकता है जब समाज का सङ्गठन धर्ममूलक हो समय के साथ धर्म के ऊपरी रूप बदलते रहते हैं, परन्तु उसके मूलतत्व अटल हैं। जो काम ऐक्य और सहयोगवर्द्धक है वह धर्म है; जो काम अपने सकुचित 'स्व' पर केन्द्रित रहता है वह अधर्म है। जिस समाज में कोई जन्मना ऊँचा, कोई जन्मना नीचा माना जायगा; जिस समाज में योग्य व्यक्ति को ऊपर उठने का, अपनी सहजात योग्यता को विकसित करने का अवसर न दिया जायगा और अयोग्य व्यक्ति कुल के आधार पर ऊँचे पद से हटाया न जायगा; जिस समाज में तप और विद्या का स्थान सर्वोपरि न होगा, वह समाज अधर्म की नींव पर खड़ा है। जिस समाज में थोड़े से व्यक्तियों को समाज की धन जन-शक्ति को यथेष्ट लगाने का अधिकार होता है; जिस समाज मे शासितों को अपने शासकों की आलोचना करने और उनके कामसे असन्तुष्ट होनेपर उनको हटाने का अधिकार नहीं होता; जिस समाज में शासकों के ऊपर तपस्वी विद्वानों, ब्राह्मणों का अंकुश नहीं होता; जिस समाज में शिक्षा, विज्ञान, कला और उपासना पर शासकों का नियंत्रण होता है, वह समाज अधर्म की नींव पर खड़ा है। जिस

समाज में थोड़े से मनुष्य धनवान् और शेष निर्धन है; जिस समाज में भोज्य पदार्थों के उत्पादन में मूल-साधनों अर्थात् भूमि, खमिनजों और यन्त्रों पर कुछ व्यक्तियों का स्वत्व है; जिस समाज में मनुष्य का शोषण वैध है जिस समाज में प्रतिस्पर्धियों को नीचे गिराना ही उन्नति का साधन हैं, जिस समाज में बहुतों की जीविका थोड़ों के हाथ में हैं, वह समाज अधर्म की नींव पर खड़ा हैं। यह कोई तर्क नहीं है कि प्राचीन-काल में, आज से कई सहस्र या कई सौ वर्ष पूर्व, इनमें से कई बातें उचित समझी जाती थीं और बड़े-बड़े विद्वानों ने इनका समर्थन किया था। जैसा ऊपर कहा गया है; धर्म का सिद्धांत अटल है; परन्तु देश-काल-पात्र के भेद से उसके विनियोग में भेद होता रहता है। पुराकाल के ब्राह्मणों ने अपने समय के लिए चाहे जो व्यवस्था की हो, परन्तु हमको इस समय को देखना है। व्यास मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर या महात्मा गांधी का नाम तर्क का स्थान नहीं ले सकता बस, धर्माधर्म की एक ही परख है। यह काम भेद-भावको कम करता है या बढ़ाता है? लोगों को एक दूसरे से मिलाता है या उनमें संघर्ष उत्पन्न कराता है? जहाँ कुछ लोगों को केवल अधिकार और कुछ को केवल कर्तव्य बांटे जायंगे; जहाँ शिक्षक, पंडित, कवि, साधु और धर्मगुरु अधिकारियों और श्रीमानों के उपजीवी होंगे; जहाँ पुरोहित का लक्ष्य केवल यजमान से धन प्राप्त करना होगा; जहाँ सम्पन्नों का दरबारी व्यासपीठ से दुर्बलों और दलितों को शांति और सन्तोष का पाठ पढ़ाने में इति कर्तव्यता समझेंगे वहाँ कदापि समता सद्भाव, सहयोग और एकता नहीं रह सकती। वहाँ वैषम्य की आग प्रत्येक दुखी हृदय में दमकती रहेगी। वह ज्वालामुखी एक दिन फूटेगा और क्रांति की लपट न केवल समाज की बुराई को, वरन् भलाई को भी भस्मसात् कर देगी। जो लोग इसको बचाना चाहते हैं, उसका कर्तव्य है कि अन्याय, शोषण, प्रपीड़न, अज्ञान, प्रवञ्चन का निरन्तर विरोध करें और मनुष्य-मनुष्य में, प्राणी प्राणी में सद्भाव और शांति स्थापित करने का यत्न करें। ऐसे वाता-

वरणमें ही ऊँची कला, विद्या और विज्ञान पनप सकते हैं ऐसी परिस्थिति में ही धर्म का अभ्यास निर्बंध परिपूर्ण हो सकता है; ऐसे समाज में ही आत्म साक्षात्कार के इच्छुकों को सुयोग मिलता है। समाज किसी को ब्रह्मज्ञानी नहीं बना सकता परन्तु मनुष्य को मनुष्य की भाँति रहने का अवसर दे सकता है उसका यही धर्म हैं!

धरती का स्वर्ग

डा० राजकुमार वर्मा

संसार भर में प्रकृति-सौन्दर्य के दृष्टिकोण से हमारे देश में जो मनोरमता है, वह बहुत कम देशों को प्राप्त है। सर्वोच्च गिरिमाला के क्रोड से निकलने वाली, पवित्र और गुणकारी जल से परिपूर्ण नदियां, उनकी समीपवर्ती उपजाऊ भूमि, अनेक प्रकार के पुष्पों से सुसज्जित पेड़ और विचित्र ऋतुओं की नृत्यमयी शोभा हमारे देश की विशेषता है। महाकवि निराला के शब्दों में :—

भारति, जय विजय करो।
कनक शस्य कमल धरे

लंका पद तल शतदल
गर्जितोर्मि सागर जल
धोता शुचि चरण युगल
स्तव कर बहु अर्थभरे !

तरु-तृण वन लता वसन
अञ्चल में खचित सुमन,
गङ्गा ज्योतिर्जल-कण
धवल-धार हार गले।

मुकुट शुभ्र हिम तुषार
प्राण-प्रणव ओंकार
ध्वनित दिशाएँ उदार
शतमुख शतरव मुखरे !

इस प्रकार हमारा देश प्रकृत का क्रीड़ांगरण है। जिस प्रकार शरीर के अवयवों में मुख की शोभा विशेष होती है, उसी प्रकार हमारे देश के मस्तक की शोभा भी अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक है हमारे देश का मस्तक यह काश्मीर ही है जहाँ प्रकृति अपनी अनुपम छटा से नित्य नवीन वेश धारण करती है उपत्यकाएँ, हिम-शैल, बादल, पुष्पराशि वृक्षराशि ने काश्मीर की सुषमा को सौंदर्य के एक नवीन स्वर्ग के रूप में सुसज्जित किया है। यही कारण है कि काश्मीर को हमारे कवियों ने स्वर्ग का एक कोना कहा है मुगल सम्राट् जहांगीर ने भी इसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कहा था "अगर फ़िरदौस बर रूए ज़मीनस्त, हमी अस्तो हमी अस्तो हमो अस्तो'—अर्थात् यदि पृथ्वी पर कोई स्वर्ग है तो यहीं है. यहीं है. य.ीं है।

फूलों के देश काश्मीर के सम्बन्ध में मेरी एक कल्पना है :--

कितना सौन्दर्य, कितनी सुषमा।

जहां देखो, इस उपत्यका में फूल ही फूल बिखरे हुए हैं, प्रत्येक स्थल पर फूलों की राशि अपनी ही विपुलता में बिखरी हुई है यहाँ इतने फूल क्यों हैं ?

संभव है, प्रकृति ने इतने फूल मेरे सामने रखकर कहा हो—"मनुष्य। विश्वात्मा कितना महान् है कितना शक्तिशाली है! कितना सुन्दर है तू इतने फूलों से उसकी पूजा कर।"

तब क्या विराट् की पूजा के लिए ही प्रकृति ने काश्मीर में इतने पुष्प विकसित किए हैं ?

समुद्र-तल से लगभग पांच हजार फीट के ऊपर पचासी हजार वर्ग मील में धरती का यह स्वर्ग फैला हुआ है आकाश-गंगा की भांति इसके ठीक मध्य में झेलम नदी प्रत्येक ऋतु में प्रवाहशील है नीहारिकाओं की भांति अनेक झीलें, नहरें और झरने स्थान-स्थान पर अपने ज्योति मंडल का निर्माण कर रहे हैं। आपका स्वागत करने के लिए "बनिहाल" एक सिंहद्वार की भाँति नौ हजार फीट उँचा मस्तक उठाये आप की प्रतीक्षा

करता मिलेगा। प्रवेश करते ही आप एक विशाल साम्राज्य में प्रवेश करेंगे जहाँ कलियाँ और फूल हल्की हवा में अप्सराओं और गंधर्वों की भाँति नृत्य करते ज्ञात होंगे। विविध प्रकार के रंग-विरंगे दृश्य, कल-कल निनादित जल के किनारे झूमती हुई सुगंधि से परिपूर्ण लताएँ इन्द्र के नन्दनकानन को लज्जित करती हुई ज्ञात होंगी और इस वर्ग को ज्योति-मण्डल के समान घेरने वाली श्वेत हिम से आच्छादित वे पर्वतमालाएँ हैं जिनकी विशाल बाहों में यह सौन्दर्य केन्द्रित हो गया है और उत्तर में स्थित ध्रुव के तारे की भाँति हमें अटलता, सुदृढ़ता और निर्भीकता का निमंत्रण दे रहा है। कोई शक्ति इस स्वर्ग को हमसे छीन नहीं सकती है। यह धरती का स्वर्ग हमारा है और हमारा रहेगा।

बारहवीं शताब्दी में महाकवि कल्हण ने "राजतरंगिणी" की रचना कर इस धरती को स्वर्ग की प्रशस्ति कहा है। सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक काश्मीर की ५०० वर्ष की सभ्यता कल्हण की वाणी से मुखरित हुई है। आठवीं और नवीं शताब्दी में वास्तुकला की चरम उन्नति का केन्द्र काश्मीर ही रहा है। ललितादित्य के शासनकाल (सन् ७२४-७६० ई०) में सूर्य भगवान् का जो मन्दिर निर्मित हुआ वह 'मार्त्तण्ड मंदिर" के नाम से भारतीय वस्तुकला के इतिहास में स्मरणीय रहेगा। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों तथा बौद्ध धर्मावलम्बियों के पवित्र स्थानों के स्मारकों से यह भूभाग यशस्वी रहा है। सम्राट अशोक के शासन काल में तो संस्कृत अध्ययन का यह विशेष केन्द्र रहा है। इसी स्थान से भारतीय कला और संस्कृति की किरणें सुदूर पूर्व के देशों में पहुँची हैं। हमारे देश की स्वतंत्रता का यह प्रहरी अपने विशाल पर्वतों की ढालों से आक्रमणकारियों को सदैव ही असफल बनाता रहा है। हमारी स्वतंत्रता का प्रतीक यह सदैव ही वीरता और सौन्दर्य में अद्वितीय रहा है। महाराज रणजीतसिंह की वीरता की तलवार सदैव इसका आलोक-मंडल बनी! हिन्दुकुश और कराकोरम इसके दो विशाल स्कन्ध हैं

जिनके हीरामुख और नागापर्वत दो भुजदण्डों ने आकाश में अपनी अखंडता की घोषणा की है।

इस प्रकार काश्मीर हमारी संस्कृति, राजनीति और इतिहास का प्रबल प्रतीक है। सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग नामक चीनी यात्री ने इसमें भ्रमण कर अपने को धन्य समझा।

धरती के इस स्वर्ग को देखकर मन में सहस्रों कल्पनायें उदय हो जाती हैं चन्दनबाडी, फिरोजपुरी नाला, पहलगाम, गुल्मर्ग, खिलनमर्ग मानस बल, डल झील आदि ऐसी विभूतियाँ हैं जिनके दर्शन से नेत्र प्रफुल्लित हो जाते हैं और स्मृति में उनकी अमर रेखा खिंच जाती है। मैंने मानस बल देखकर एक स्थान पर लिखा था :—

मानस बल के निर्मल जल में जब मैंने अपनी दृष्टि डाली तो नीचे की सभी वस्तुएँ स्पष्टता के साथ दीख पड़ीं। उसी समय आशा के समान विविध रंगों से रंजित एक पक्षी अपनी गति की रेखा में संगीत का रंग भरते हुए उड़ गया। उसका प्रतिबिम्ब जल के ऊपर एक रंगीन लहर बनकर निकल गया नीचे और ऊपर के प्रतिबिम्बों ने मानस बल को एक संत हृदय के समान बना दिया, जिसमें निरंतर लौकिक और अलौकिक भावनाओं का प्रतिबिम्ब पड़ा करता है।

पहलगाम के संबंध में मेरी एक छोटी सी बात सुनिये—पहाड़ी के नीचे एक छोटी सी बस्ती है उसका नाम है पहलगाम मुझे तो ऐसा ज्ञात हुआ कि कोई माँ अपनी गोद में अपने नन्हें से शिशु को रखे हुये प्रेम से उसका मुख निहार रही है।

समीपवर्ती नदी ही माता के वक्ष से निकली दुग्धधारा है जिससे पहलगाम का पोषण होता है।

पर मेरे हृदय में तो यही जिज्ञासा है कि पहलगाम कब तक शिशु बनकर अपनी माँ की गोद में रहेगा! अनंतकाल से तो उसका यही हाल है। तब क्या उसका शैशव अनंत शैशव है ?

अन्त में फिरोजपुरी नाला के संबध में मैंने लिखा है —

पर्वत के अन्तराल में बहता हुआ नाला।

जल कितनी शिलाओं के ऊपर-नीचे दायें बायें होकर निकल रहा है—उसी प्रकार से संसार में पड़े हुए पत्थर के समान व्यक्ति के चारों ओर से समय का अविराम प्रवाह जा रहा है। जिस प्रकार जल के संघर्ष से पत्थर घिसता और छोटा होता रहता है, उसी प्रकार समय के प्रवाह से मनुष्य का जीवन भो धीरे-धीरे घटता जाता है।

तब क्या हमारे जोवन को स्पर्श करता हुआ समय का प्रवाह भी एक भीषण नाला है?

सन् १९३५ में मैंने काश्मीर के दर्शन किये थे। बानिहाल से आगे चलकर मेरे आँख निहाल हो गई थीं। मेरी अवाक् हृदय के सामने सौन्दर्यशाली काश्मीर था जैसे अबोध ध्रुव के सामने कमलनयन नारायण।

आज इतने वर्षों के बाद भी मेरे लिए काश्मीर धरती का स्वर्ग है जो प्रत्येक भारतीय के गौरव और अभिमान का ध्रुव-नक्षत्र है।

———

पेट

कृष्णदेवप्रसाद गौड़ 'बेढब बनारसी'

जिस समय ब्रह्मा ने मानव का शरीर बनाया या जिस किसी ने बनाया था, क्योंकि किसी ने बनाते देखा नहीं है, मनुष्य के साथ बड़ी निर्दयतापूर्ण हँसी उसने की। यदि इसके पहले उसने और प्राणियों का निर्माण किया था तो उसे अनुभव हुआ ही होगा। ब्रह्मा अनुभव से न सीखे यह तो मानने को जी नहीं करता है। चार सिर होंगे तो चारों खोपड़ी में भेजा भी होगा और उसमें बुद्धि भी होगी। ईश्वर शैतान को दण्ड भी दे चुका था कि तुम सर्प होकर पेट के बल चलोगे जिसका परिणाम यह हुआ कि केवल शैतान ही नहीं सर्प के रूप में पेट के बल चलता बल्कि शैतान के और संबंधी—मामा मामी, चाचा-चाची, फूफा-फूफी-जैसे घड़ियाल और मेढक और छिपकिली भी पेट के बल चलती हैं यह दण्ड इसीलिये कि पेट को दण्ड देना था। शिशु भी पेट के बल रेंगता है कि जीवन में सदा स्मरण रहे कि सारे खुराफातों की जड़ यह पेट है; इसे स्मरण रखना। जनरल डायर ने इसीलिये पंजाब मे लोगों को पेट के बल रेंगने के लिए कहा था। इस पेट की सृष्टि क्यों की गयी यह विडम्बना ही है। यदि पेट न बनाया गया होता तो हानि क्या थी हृदय रक्त सञ्चालन के लिए था ही। फेफड़े रक्त शोधन के लिए ही थे। मैं यह नहीं मान सकता कि मनुष्य का निर्माण करने वाला इतना मूढ़ है कि कोई ऐसा यन्त्र या अवयव शरीर में न बना देता जो रक्त बनाने की सामग्री न जुटा देता। देवता लोग सूँघकर तृप्ति कर ही लेते हैं इसलिए दण्ड देने के लिए ही पेट बनाया गया।

बहुत से अवयव तो आवश्यक जान पड़ते हैं। आँख न होती तो

हम सुन्दरता की ओर कैसे निहारते ? आँख के ही कारण सीताजी राम को वर सकीं, नहीं तो इतने राजा आये थे न जाने किसकी गर्दन में जयमाला पड़ जाती ? आँख न होती तो ताजमहल कैसे बन पाता। आँख न होती तो रामचरितमानस न लिखा गया होता क्योंकि सूरदास तो कूप में गिर गये इसलिए भगवान ने उन्हें ऊपर खींच लिया, तुलसीदास तो यमुना या गंगा में गिर गये होते। यहाँ बह जाने का डर था। आँख न होती तो रत्नावली की बात तुलसीदास को लगती नहीं और रामचरितमानस भी लिखा नहीं जाता। इसलिए आँख की उपयोगिता समझ में आती है। इस प्रकार कान, नाक, हाथ के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। किन्तु पेट की उपयोगिता क्या है ?

कुछ लोग कह सकते हैं कि पेट ही कारण बड़े-बड़े कारखाने चल रहे हैं बड़े-बड़े राज्य चल रहे हैं, युद्ध होता है और उसके लिए गोला बारूद, अस्त्र शस्त्र बनते हैं पाँच हजार मरते हैं तो पचास हजार मौज से जीवन बिताते हैं। किन्तु इस पर विचार नहीं किया गया कि यदि पेट न होता तो क्या होता ? क्या उस समय "अधिक अन्न उपजाओ" की चिन्ता में मंत्री लोग दुर्बल होते, कन्ट्रोल की व्यवस्था करने के लिए इतना करना पड़ता ? पेट न होता तो क्या कष्ट सहकर मोटरकार या वायुयान पर मन्त्रियों को सारे देश का दौरा करना पड़ता ? पेट न होता तो क्या बाढ़ से किसी को चिन्ता होती ? फिर मनों अनाज एकत्र करके रुपये का डेढ़ सेर बेचने का लालच किसी को होता ?

सबेरा हुआ और चाय या टोस्ट या हलवा या गुड़ की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। यह पेट की ही लपेट है और कुछ नहीं। [प्रेम की शिक्षा लेकर बड़ी-बड़ी संधियाँ और बड़े-बड़े राष्ट्रीय कार्य डिनर की मेजपर या चायकी टेबुल पर ही तो होते हैं। पेट ही वह राह है जिसके द्वारा लोग ऐसे स्थानों पर पहुँच जाते हैं जहाँ मेरी पहुँच नहीं होती और फिर जो कार्य गीता, याज्ञवल्क्यस्मृति चाहे पराशर स्मृति द्वारा भी वर्जित है वह भी हो जाता है। संसार का जितना लूटमार का इतिहास है वह पेट का

इतिहास है । महात्मा गाँधीने कहा—"कम खाओ, उपवास करो पेट पर विजय प्राप्त करो" बुद्ध, ईसा सबने यही कहा । पेटपर अंकुश लगाने की सलाह इन लोगोंने दी । किन्तु अंकुश के वश होने वाला यह नहीं । यह ससीम में असीम है छायावाद का प्रतीक है, रहस्यवाद का रूपक है, गागर में सागर है । भिड़न्त इसके कारण होती है, महन्त इसके कारण बनते हैं, रटन्त इसी के लिए की जाती है, यह अनन्त, इसकी शक्ति अनन्त है ।

वैज्ञानिकों ने ब्रह्माके बहुतसे कार्यों में सुधार किया, जो कुछ उनके सर्जनमें त्रुटि रह गई थी उसका संस्कार किया, किंतु ऐसी कोई वैज्ञानिक प्रक्रिया नहा निकाली जिससे पेट की आवश्यकता न रहे । सोचिये कि पेट नहीं हैं तो आपको इसकी आवश्यकता नहीं है कि आज गेहूँ नहीं मिला, कहीं से जौ का ही प्रबन्ध करना चाहिए । आप प्रातः काल से रात नौ बजे तक वृक्ष के नीचे बैठे भैरवी से लेकर भीमपलासी तक की तान उड़ा रहे हैं । आप प्रेमी हैं तो निरंतर प्रेम का वाक्य बनाने में लगे हैं । इस बात की चिंता नहीं है कि भोजन ठण्डा हो जायगा । वियोगी हैं तो पत्रों-पर पत्र, ताव पर ताव यदि कागज मिलता चला जाय, लिख रहे हैं । किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित नहीं होने वाला है कोई विचारों का तारतम्य तोड़ने की बात नहीं है । बाढ़ आ गयी है गंगा का पानी दो सौ, तीन सौ फुट चढ़ रहा है, घर गिरने की चिंता थोड़ी हो सकती है, नहीं तो लहरों की क्रीड़ा का आनन्द, भँवर के नर्तन का सुख लूट रहे हैं । यह चिंता तो नहीं है कि कल क्या होगा भविष्य की चिंता की कल्पना का न होना ही स्वर्ग है । पृथ्वी पर सब कुछ है, बिजलीका पंखा भी है, रेफरीज-रेटर भी है, एयरकंडीशन भी है, किन्तु इस पेट से बचने का कोई उपाय नहीं है । विज्ञान की सारी खोज इसके सामने वैसे ही बेकाम है जैसे अलकतरा के सामने साबुन या ब्लैकमार्केट वालों के सम्मुख ईमानदारी ।

पितृपक्ष के पन्द्रह दिन इस बात को सूचित करते हैं कि मृत्यु के

पश्चात् भी पेट से पिण्ड नहीं छूटता। बुभुक्षा से पीड़ित पितृ लोग धरती की ओर आँख लगाये रहते है जैसे नारियल का फल धरती की ओर लटका रहता है। सुनता हूँ, किसी युग में भारतवर्ष में ऐसे तपस्वी रहते थे जो छः सौ साल तक भोजन बिना रहते थे। वे पेट की चिन्ता से मुक्त थे। डी० लिट्० और पी० एच० डी० की डिग्री लेने के लिए खोज में जो लोग अपनी जिन्दगी बरबाद करते हैं उन्हें चाहिए कि उसी रहस्य का पता लगायें जिससे वे महात्मा पेट से मुक्त थे। संसार का वैषम्य दूर हो जायगा।

मार्ग-दर्शन

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

उस दिन लखनऊ जाना हुआ था। एक तो यों ही अजनबी आदमी दूसरे घूमने का शौक, बार-बार भटक जाता और तब यों ही किसी राह चलते से पूछ बैठता, 'क्यों साहब, अमुक स्थान का रास्ता कौन-सा है ?" फिर वह "अमुक" स्थान अमीनाबाद हो, या चौक या हजरतगंज इमाम बाड़ा या केसरबाग, पुरानी रेजिडेंसी या गोमतीका पुल या छतर मंजिल मतलब यह कि अगर मैंने अमीनाबाद का नाम ले ही दिया तो यह नहीं कि मुझे वहीं जाना था, केवल यही कि जो दस-पाँच नाम सुन रखे थे उनमें से एक का होना चाहिए, और हो सके तो ऐसा भी कि जिधर मैं जा रहा हूँ उससे ठीक उल्टी दिशा में तो न पड़े।

लेकिन जो बात मुझे कहनी है उसका सम्बन्ध मेरे पूछने से नहीं, बताने वाले के बताने से है क्योंकि यह जानते हुए भी कि लोगों के मार्ग बताने के तरीके अलग-अलग होते हैं, "लखनऊ" का तरीका कुछ निराला ही मालूम हुआ यह तो सुन रखा था कि किसी बंगाली से मार्ग पूछो तो वह प्रश्न सुनने से पहले ही खीझे से स्वर में कह देगा "जानि ना" (मैं नहीं जानता) और किसी बनारसी (या किसी बनरसिये) से पूछो तो वह ठोडी किसी तरफ को उठाकर पान की पीक सँभालते हुए कह देगा 'इ का हौ सामने।'—फिर आप 'सामने' का चाहे जो अर्थ लगाते रहिए, और ठोड़ी किधर का उठी थी यह निश्चय करन के लिए चाहे जितने पैतरे कर लीजिये पंजाबियों का (विशेष कर लोमश-गोत्रीय पंजाबियों का—) बना-बनाया उत्तर प्रसिद्ध ही है कि "जी, मैं तो इस शहर का नहीं हूं"—फिर चाहे प्रश्न आपने यही पूछा

हो कि सूरज किधर निकलता है ? एक बार मैंने पटने में एक सज्जन से गोलघर का रास्ता पूछा था तो उन्होंने जिस वात्सल्य भरी टोन के साथ कहा था, "गोलघर जाये क बाटे नू ?" उसे लक्ष्य करके मैं मुग्ध होकर रह गया था--यह सोचकर कि पाटलिपुत्र में सवाल भी ऐसे पूछा जाता है मानो आशीर्वाद दिया जा रहा हो पर फिर उन सज्जन ने मुझसे अधिक मुग्ध मुद्रा बनाकर बड़ी-बड़ी चकित आँखें मुझ पर जमा कर कहा था, 'वह तो हम नहिएँ बता सकते हैं' मानों सारा दोष कम्बख्त गोलघर का ही हो जो रोज न जाने किधर मटरगश्ती करने निकल जाता है।

लेकिन लखनऊ में नफासत नहीं तो कुछ नहीं जो बताने लगता, बड़े इतमीनान से और आवाज में माधुर्य भर कर : लेकिन यहाँ से आगे उसे उसी के शब्दों में देना उचित होगा :—

वह—'तो आप— —— ' जायेंगे ? हाँ साहब, तो आप इधर सीधे तशरीफ ले जाइये, वह जो दूसरा चौराहा दीखता है न —"

मैं— हाँ - "

वह--"वही जहाँ वह लाल साइनबोर्ड है, जिस पर लिखा है पं० रोशन लाल दिव्यचक्षु राजज्योतिषी--"

मैं--(कुछ अनिश्चित-सा क्योंकि इतनी दूर से बोर्ड पढ़ना मेरे लिए असम्भव है) "हाँ"

वह--(मेरे अनिश्चय को लक्ष्य करके) "वहीं एक पानी का कल भी है जिसमें पाँच टोटियाँ हैं, उसके पास से एक गली दाहिनेको मुड़ती है जिसमें थोड़ी दूरी पर पीतल के बरतनों की दुकान दीखती है—"

मैं-- इन सब ब्यौरे को स्मृति-पटल पर बैठाने की कोशिश करता हुआ) "अच्छा—"

वह--"उधर मत जाइयेगा सीधे आगे चलकर थोड़ी देर बाद एक ढलान शुरू हो जायगा, जो आगे रेल की पटरी के नीचे से गुजरता है -दो मेहराब वाला एक पुल है, जिसके नीचे से आने और जाने

वाला ट्रैफिक अलग-अलग जाता है-पुल से गुजर कर सड़क धीरे-धीरे मोड़ लेती है और सिनेमा घर के पास:—"

मैं—"कौन-सा सिनेमा घर !"

वह—"अजी वही-निशात (या जो भी नाम रहा हो) लेकिन उधर मत जाइयेगा। बल्कि पुल तक भी आप को जाना नहीं होगा; उससे पहले ही एक सड़क बांये को मुड़ जाती है, जिस पर थोड़ी दूर जाकर तांगों का अड्डा मिलता है। वहाँ से तीन रास्ते निकलते हैं, सबसे पहला जरा सुनसान-सा दीख पड़ता है।"

मैं— कुछ अधीर, और यह सोचता हुआ कि इतना सब तो मुझे याद नहीं रहेगा आगे फिर पूछ लूंगा अच्छा मैं समझ गया—

वह—उधर मत जाइयेगा। जो दूसरा रास्ता—"

लेकिन इतने से आप लखनऊ की विशेषता अवश्य पहचान गये होंगे। अगर मैंने झल्लाकर यह नहीं कह दिया कि "हां साहब, सब समझ गया, जो-जो रास्ता आप बताते जायेंगे वह-वह छोड़ता हुआ मैं चला चलूँगा और इस प्रकार ठीक वहां पहुँच जाऊँगा जहाँ कि मुझे पहुँचना नहीं है' तो इसीलिये कि भला किसी लखनऊ वाले को ऐसी रूखी बात कैसे कह दी जा सकती है! जो सुना है गुलाबजामुन भी छील कर तश्तरीमें पेश करते है।

ऐसी स्थिति में लखनऊ में देखा क्या होगा, यह तो आप सोच ही सकते हैं। हाँ, जिन-जिन सड़कों पर नहीं गया जिन जिन मोडों पर नहीं मुडा, जिन-जिन गलियों में नहीं घुसा उनका ब्योरा आप को तो काफी विस्तार के साथ सुना सकता हूँ—इतने विस्तार से कि आप जरूर मुझे लखनऊ वाला मान लें यदि आप स्वयं ही लखनऊवाले न हों

यों लखनऊ में मार्ग बता देना पर्याप्त नहीं हैं। बल्कि लखनवी संस्कार का उससे तुष्टतर प्रमाण यह होगा कि दूसरे शहरों के मार्ग भी लखनवी पद्धति से बता सकें। कहावत हैं कि किसी के मित्र कौन हैं यह पता लगते ही बताया जा सकता है कि स्वयं कैसा है। हम तो समझते हैं

कि मित्रों से परिचय की भी कोई जरूरत नहीं है आप एक बार उससे उसके घर का रास्ता पूछ लीजिए। इन प्रश्न के उत्तर में ही उसके सारे संस्कार मुखर हो उठेंगे और उसके संस्कारों से आप उस सामाजिक प्रवृत्ति को भी पहिचान सकेंगे जिससे वह आया है—यानी उसकी संस्कृति से आप का परिचय हो जायगा आप चाहें तो इसे एक नया सिद्धान्त समझ सकते हैं इस प्रबन्ध को 'मार्ग निर्देशन या मार्ग-निदर्शन न कहकर 'मार्ग-दर्शन' कहने का कारण इसी नये सिद्धान्त का आग्रह है। यों जो लोग शीर्षक में पूरी की पूरी बात कह देने के समर्थक हैं वे इसे 'मार्ग-निर्देशन-दर्शन' भी कह सकते है, और जो उसे साथ-साथ चमत्कारी रूप भी देना चाहते हैं वे उसे दिग्दर्शन-दर्शन भी कह सकते हैं।

जिस प्रकार हम देश-काल-ज्ञान से किसी व्यक्ति के संस्कारों का अनुमान कर लेते हैं, उसी प्रकार व्यक्ति के संस्कारों से हम उसके देश-काल को भी पहचान सकते हैं लखनवी, बनारसी, बिहारी, बंगाली और पंजाबी की पहिचान के सूक्ष्म संकेत तो हमने ऊपर दे ही दिये, अपने अनुसंधान को काल के आयाम में बढ़ायें तो इस दर्शन की उपयोगिता और मौलिकता और भी स्पष्ट हो जायगी। कोई स्थान संकेत देते हुए कहता है :—

"पेड़ों के नीचे शुक शावकों के मुंह से गिरे हुए तृण-धान्य हैं, पत्थर इङ्गुदी फलों के तोड़े जाने से तैलाक्त हो रहे हैं, आश्वस्त भाव से घूमते हुए मृग शब्द सुनकर भी नहीं चौंकते जलाशय के पथ पर वल्कलशिखा से झरी हुई बूँदों से रेखायें खिंच गयी हैं।"

इन संकेतों से यह समझ लेना कठिन नहीं है कि यह ऋषि-उपवन का मार्ग है, और उससे यह निष्कर्ष निकालने के लिए कोई साधारण बुद्धि नहीं चाहिये कि ऐसे मार्ग-संकेत का काल आश्रम-सभ्यता का काल है।

कुल्याम्भोभिः पवनचपलैः शाखिनो धौतमूलाः।
भिन्नो रागः किशलयचामाज्य धूमोद्गमेन ॥

पवनालोड़ित कुल्या के जल से वृक्षों के मूल धुले हुये हैं, और यज्ञ-धूम से उनके किसलयों का रङ्ग बदल गया है। इन लक्षणों से हम केवल एक आश्रम की समीपता ही नहीं पहचानते एक समूचे सांस्कृतिक वायुमण्डल का स्पर्श पा लेते हैं। और इसीलिये अनन्तर जब हम पाते हैं कि आश्रम छोड़कर जाती हुई शकुन्तला अपनी सखियों को तो कण्व ऋषि को सौंप देती हैं, किन्तु "अपसृतपांडुपत्र" रूपी आँसू बहानेवाली लता से गले मिलती है, क्योंकि वह माधवी-लता तो "लताभगिनी" है, तो हमें आश्चर्य नहीं होता—उस वातावरण में जीव और जीवेतर सभी का सवेदनशील होना ही सम्भाव्य है।

किन्तु साहित्यिक मार्ग-संकेत के उदाहरण के बिना भी काल सापेक्ष्यता का सिद्धांत—प्रतिपादन हो सकता है। मार्ग-निर्देशन के तरीके में पीढ़ी दर पीढ़ी कैसे परिवर्तन हुये होंगे, यह खोज का और कल्पना का बहुत अच्छा विषय हो सकता है। आप का गतव्य जो ग्राम है, उसका नाम "जोगीमारा" न भी हो तो अगर आपको शीतला की मढ़िया' के आगे जो अमराई पड़ती है, उसके किनारे के भुतहे पीपल के आगे से मुडकर, डायन के टीले को ओट में बसे हुये पुरवे तक पहुँचने का मार्ग बताया जा रहा है, तो आप सहज ही मान ले सकते हैं कि यदि आप आज के किसी अन्धविश्वास विजड़ित समाज के प्रदेश में नहीं आ गये हैं तो निश्चय ही किसी ऐसे युग में जा पहुँचे हैं जिससे विज्ञान का स्थान अन्ध-श्रद्धाको और धर्म का स्थान भय अर्थात् अन्ध-विश्वासको प्राप्त है—और "राजा का साहसपुर" के पास ' ठाकुर फतेहसिंह की गढ़ी", 'सिंह पौर" और "हाथी पोल"—ये क्या आप को वीर-सामन्त काल में नहीं ले जाते ?

———

कालिदास

डा० भगवतशरण उपाध्याय

जो बात कवि के जन्मस्थान और काल के सम्बन्ध में सही है वही उसके जीवन के सम्बन्ध में भी सही है। वस्तुतः उसका जीवन तो इतना अलक्ष्य है कि उसको स्थिर करने की कठिनाइयाँ उसके जन्म-स्थान और काल की समस्याओं से भी अधिक हैं। उसकी समकालीनता के कुछ प्रमाण उसके स्थान विशेष के प्रति आकर्षण, निश्चय उसके देश की ओर संकेत करते जान पड़ते हैं, परन्तु उसके जीवन सम्बन्धी घटनाओं का तो कहीं आभास तक नहीं मिलता।

कवि के व्यक्तित्व का तो निश्चय ही भारतीय संस्कृति और साहित्य पर इतना गहरा प्रभुत्व पड़ा है कि वह बार-बार उनमें उल्लिखित हुआ है वह उनके प्राण और आत्मा बन गया है, परन्तु प्रामाणिक रूप से कुछ भी ऐसा नहीं जिसपर निर्भर किया जा सके। यह तो केवल अविरल प्रवाहमान मेधा मात्र है, चकित कर देनेवाली निःसीम प्रतिभा मात्र, संवेदनशील आर्द्र हृदय मात्र, जिसकी सूक्ष्मता पराक्रम की कर्मठ स्थूलता तक में नहीं बँध पाती! हाँ, कुछ परम्परागत किम्बदन्तियाँ हैं जिनका सम्बन्ध कवि के जीवन से स्थापित करने के प्रयत्न हुए हैं।

परन्तु जलकी धारा पर लिखी घटनाओं कीही भाँति उनकी भी प्रामाणिकता नष्ट हो गई है, क्योंकि उनका सम्बन्ध विश्वास से अधिक है, ऐतिहासिकता से प्रायः उतना नहीं। कुछ परम्परायें तो सर्वथा निरर्थक

है और कुछ कालिदास नामधारी अन्य व्यक्तियों के जीवन से लेकर जहाँ वे स्वयं कुछ कम काल्पनिक न थीं, हमारे कवि के जीवन से जोड़ दी गई हैं। महान् और लोकप्रिय होना भी इस दिशा में कवि के जीवन तथ्य खोजने में बाधक हो गया क्योंकि अनेक कवियों ने जैसे उसकी कृतियों का अनुकरण किया वैसे ही अनेक ने उसका नाम भी स्वायत्त कर लिया, जिससे इन कालिदासों में कौन प्रकृत कालिदास है, इसे स्पष्ट करने में और भी कठिनाइयाँ उपस्थित हो गयीं। अनेक कालिदासों में जो तीन अपेक्षाकृत स्पष्ट हैं, उनमें पहला तो निस्सन्देह हमारा प्रकृत कलिदास है, दूसरा काश्मीर के शासक के रूप में कवि-परम्परा और कल्हण के अनुसार राज भोगने वाला मातृचेट है, तीसरा सम्भवतः ग्यारहवीं सदी के प्रसिद्ध परमारवंशी धारा के राजा भोज का दरबारी कवि है, जिसकी कथा उस राजा के साहित्यिक जीवन से ओतप्रोत मिलती है! जी हाँ, रघुवंश और शकुन्तलाका लिखनेवाला पहला ही हैं। उसको दूसरों के साथ भरमाने की आवश्यकता नहीं।

यह जो कहा जाता है कि कालिदास आरम्भ में नितान्त मूर्ख थे, जिस डाली पर बैठे थे उसी को काट रहे थे, अपनी पत्नी विद्यावती के सामने निरक्षरता का भेद खुल जाने से लज्जित होकर चले गये और देवी के प्रताप से समर्थ कवि होकर लौटे, इसमें इतिहास खोजने की आवश्यकता नहीं। वह सर्वथा कपोल-कल्पित कथा है जो प्रतिभा को ज्ञान के विरोध में विशेष व्युत्पन्न करने लिए कही गई। मेघावियोंके जीवन से लगी इस प्रकारकी घटनाएँ अनेकबार निराधार जोड़ दी गई है।

कालिदास की लंका के राजा कुमारदास के साथ मित्रता की बात भी अनैतिहासिक परम्परा पर ही अवलम्बित है। शृंगार और विलास की, संकेतस्थान और अभिसार की, काम सूत्रों और वारांगनाओं तक की अनेक स्थितियों का अपनी रचनाओं में वर्णन करने के बावजूद कोई कारण नहीं कि कवि को वेश्यागामी माना जा सके। लंकावाली परंपरा

को वस्तुतः कवि के शृंगारिक वर्णनोंसे ही प्रश्रय मिला है, परन्तु उसकी सत्यता का कोई प्रमाण नहीं है और कवि का लङ्का जा पहुँचना तो किसी प्रकार भी स्थापित नहीं किया जा सकता। किसी ने यहाँतक कह डाला है कि हूणों के आक्रमणों से कवि को भागकर कुमारदास के यहाँ लङ्का मे शरण लेनी पडी थी कहना न होगा कि यह निष्कर्ष किसी स्थिति में भी उचित नहीं हैं, क्यों कि पहले तो हूणों को वंक्षु-तीर पर वर्णन करनेवाले कवि को पाटलिपुत्र या उज्जैन से भागने की उनके आक्रमण से पूर्व ही आवश्यकता न पड़ी होगी और इस अकारण कायरता को, जब कि अनेकानेक कवि और दार्शनिक सभी आक्रमण कालों में, सिवाय मुस्लिम आक्रमण के चुपचाप लिखते रहते थे, कवि के सिर थोपने की कोई आवश्यकता भी नहीं दूसरे समुद्र-तट और पाटालपुत्र या उज्जैन के बीच भाग कर शरण लेने के अतिरिक्त अनन्त स्थान थे और कवि की मेधा निश्चय किसी भी आश्रय-दाता को उसे अपने यहाँ टिकाकर धन्य मानने में विवश करती, उसके लिए लंका जा पहुँचने की आवश्यकता न होती।

कालिदास के ग्रंथों से, यद्यपि उनके जीवन की घटनाओं पर तो नहीं परन्तु कवि के ज्ञान, रुचि और व्यक्तित्व पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है और यहाँ उसके प्रति संकेत कर देना अनुचित न होगा।

कालिदास ने बहुत लिखा है और बहुत सुन्दर लिखा है। उस कवि का काव्य गुण और मात्रा दोनों में प्रचुर है गुणतः तो वह सर्वथा अनुपमेय है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कवि बुद्धिः और हृदय का अद्भुद एकस्थ विभूति है उसकी विविधता इतनी व्यापक है कि नहीं कहा जा सकता कि उसका पांडित्य बड़ा है कि चिन्तन। निश्चय ही उसके पांडित्य की कोई सीमा नहीं आंकी जा सकी। उस समय जितना भी ज्ञान आचार्यों से उपलब्ध हो सकता था, कवि को मिला। चार या चौदह विद्याएँ, दर्शन; साहित्य, आरण्यक, उपनिषद्, ज्योतिष, निरुक्त,

व्याकरण कामशास्त्र, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, शल्यशास्त्र, गज-शास्त्र, शालिहोत्र, औषधि-शास्त्र, वास्तु, भाष्कर्य चित्र, सङ्गीत, अभिनय, नृत्य कुछ भी तो ऐसा नहीं जो उसके ज्ञान की परिधि के बाहर रहा हो और जो विषय गिनाये गये हैं वे वस्तुतः केवल वे हैं जिन्हें हमने उसकी रचनाओं से संकेततः प्राप्त किया है जो उसके वर्णनों की अतिशयता से टपक पड़े हैं, परन्तु उसका ज्ञान तो इससे कहीं बड़ा हैं, कहीं गंभीर। क्योंकि मनुष्य जितना जानता है उतना कह नहीं पाता। कह पाना ज्ञान की एक मात्रा तक ही संभव है। अव्यक्त का आकाश व्यक्त की सीमा से बड़ा है। पर उस आकाश को भी उस महाकवि ने त्रिविक्रम वामन के पदों से नाप लिया और इतना होनेपर भी जब वह निराडंबर अपने असाधारण ज्ञान को तुच्छ बताकर कभी शक्ति में बौना कहता है, तब जैसे उसकी निरीहता पर उसकी शक्ति को जानने वाले महामेधावी के भी हाथ पैर फूल जाते हैं। कवि कालिदास अपने को अकिंचन मानते हुए कहता है ?

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।

तितिर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥

कहां तो सूर्य से उत्पन्न वंश (रघुवंश) और कहां मेरी थोड़ी सी बुद्धि। मैं मोहवश डोंगी से सागर को पार करने की इच्छा कर रहा हूँ।

कालिदास का हृदय मृदु भावनाओं का असाधारण सङ्गम है इतना संवेदनशील हृदय-मानव-इतिहास में किसी कविको शायद नहीं मिला। न केवल मनुष्य ही उस महान की दया और संवेदन का अधिकारी है वरन जीवमात्र, वनस्पति तक उसमें अपना भाग पाते हैं। सारा चराचर जैसे कालिदास के आर्द्र अभिसिंचन की परिधि में आ गया है और उसके हृदय का स्पन्दन जैसे समूचे निसर्ग का स्पन्दन बन गया है। दर्पण सरीखा उसका अन्तर सारे जगत को प्रतिबिम्बित करता है पशु-पक्षियों के साथ उसका अपनापन देख पाठक चकित रह जाता है।

जंगल और मैदान, हिम-मंडित गिरि-शिखर और गह्वरगत नदियाँ सभी पर उसका मानस छाया-छाया फिरता है, जैसे सारा जगत उसका है, जैसे वह स्वयं सारे जगत का है।

"रघुवंश" का अज-विलाप और "कुमार सम्भव" का रति विलाप कवि किसी प्रकार नहीं लिख पाता यदि उनके दुःख और कातरता को वह पूरा-पूरा अपना न लेता। कितनी करुणा उन स्थलों में बरसी है, मानवता की कितनी आर्द्र कल्पना उनमें मुखरित हुई है, कहना न होगा। परन्तु उस कष्टकर प्रसंग में वह कभी औचित्य का उल्लँघन नहीं करता और उन कारुणिक उद्गारों में भी ऐसी स्थितियों की ओर संकेत करता है, जो मात्र रोने से सम्पर्क नहीं रखती और फिर प्रसंग बदलते ही वह अपने प्रकृति आचार को पकड़ लेता है। अज इन्दुमती को खोकर जीवन के प्रति शासन और कर्त्तव्य के प्रति उदासीन हो जाता है प्रजा का वह सर्वस्व है और राष्ट्र का केन्द्र; पर उसकी क्षति जानते हुए भी वशिष्ट अपनी स्थिति-विशेष से विचलित नहीं होते। अपनी विधि-क्रियाओं को छोड़कर अयोध्या नहीं दौड़ पड़ते, परन्तु जो संदेश वे कान्ता-विरहित पति और प्रजारक्षक राजा अज को भेजते हैं वह अत्यन्त सशक्त है और स्थिति को सर्वथा बदल देता है।

सदेश इस प्रकार है :

"मरणं प्रकृतिःशरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः !"

शरीर का मर जाना स्वाभाविक है, प्रकृतिसिद्ध जीवन विकार है, क्योंकि तत्व अपने प्रकृत आधार से हटकर पिंड को बनाते हैं। उनका अपने आधारों को लौट जाना ही स्वाभाविक है।

शकुन्तला के अपमान के बाद जिस करुणा का वह दुष्यन्त की वाणी में संचार करता है, उसका सानी ससार के सहित्य में मिलना दुर्लभ है। दुष्यत शकुतला के चले जाने पर अपने हृदय को संबोधित कर कहता है

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रयया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम् ।
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं सम्प्रति विबुद्धम् ॥

अभागे हृदय, मृगनयनी प्रिया ने पहले जब आकर तुम्हें बार-बार जगाया, पहचानने को कहा, तब तो तुम गाढ़ी नींद सोते रहे और अब जब उसकी जगह अत्यन्त घना दुःख आ पड़ा है, तब उस कष्ट की घनी मात्रा को आंकने के लिए तुम जाग उठे हो।

शकुन्तला मारीच के आश्रम में दुष्यन्त के विरह में तप रही है। दुष्यन्त रथ से उतर कर उसके व्रत के प्रभाव को जब दूर से उसके क्षीण शरीर पर देखता है, तब अनायास उसके मुँह से निकल पड़ता है :--

वसनेपरिधूसरे वसाना
नियमक्षाममुखी धृतंकवेणिः ।
अति निष्करुणस्य शुद्धशीला
मम दीर्घं विरहव्रतं विभर्ति ॥

मलीन वसन पहने हुए, व्रत नियमों के कारण एक ही सूखी वेणी धारण करने वाली, मुझ अत्यन्त निष्करुण के लिये शुद्ध शील वाली शकुन्तला विरह-व्रत कर रही है।

यक्ष, "मेघदूत" में मेघ से अपनी पत्नी की विरहाकुल स्थिति बताता हुआ कहता है:--

उत्संग वा मलिनवसने साम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्र कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमादाँ नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचि
द्भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥

गोद में वीणा रखे, मलिन वसन पहने हुए वह मेरे नाम कुल से सम्बन्धित पदों को गाने की कामना करती हुई, वीणा के, अपने आँसुओं से भीगे तारों को जैसे-जैसे पोंछ, जब वह गाने का प्रयास करती होगी,

तब हे सौम्य, बार-बार अपने आप की हुई मूर्च्छना को सहमा भूल जाती होगी।

उसके भेजे सन्देश में नितान्त करुण शोक है, जिसके जोड़ का दूसरा श्लोक शायद न लिखा गया हो:--

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया--
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्
अस्त्रैस्तावन्मुहुरूपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥

शिला पर गेरु से प्रणय-कुपित मान किये हुए) तुम्हें चित्रित कर, जबतक तुम्हें चरणों में गिरे हुए अपने को रूपायित करना चाहता हूँ तबतक अत्यन्त अधिक मात्रा में आँसुओं से जो आँखें भर आती है उससे मेरी दृष्टि बन्द हो जाती है । क्रूर अभाग्य हम दोनों का सयोंग इस प्रकार चित्र में भी नहीं देख सकता।

इस प्रकार सैकड़ों-हजारों पंक्तियाँ कवि के साहित्य-समुद्र से प्रस्तुत की जा सकता हैं, जिनकी करुणा और आर्द्रता अपना प्रमाण आप है। कवि का हृदय अत्यन्त व्यापक है, अत्यन्त मृदुल। नारी-मंडल में कवि इतना पारंगत है कि उसका तत्सम्बन्धी ज्ञान, विशेष प्रसाधक तक को लज्जा सकता है। उसकी प्रत्येक रचना में, उचित प्रसंग में,सर्वत्र सदा प्रसाधन के सोते फूट पड़ते हैं और कवि उनको सविस्तार सूक्ष्मदर्शी कलावन्त की भाँति निबाह लेता है! उसके ज्ञान की विविधता कितनी व्यापक है, इसे बताने के लिए स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता होगी। यहाँ तो हम केवल उसके हृदय के गुणों की ओर संकेत करना चाहते हैं।

कालिदास की सुरुचि का जोड़ भी संस्कृति-साहित्य में कहीं नहीं मिलता। कभी वह शृंगार के वर्णन तक में सुरुचि और मर्यादा से नीचे नहीं उतरता। कभी पैने से पैने आलोचक की बुद्धि में भी यह नहीं आता

कि कवि को यह बात नहीं कहनी चाहिए थी। कालिदास अनिवर्चनीय कभी नहीं कहता, वचनीय कभी वह छोड़ता नहीं, और दोनों का संयोग कर अद्भुत सुरुचितूर्ण काव्य की अभिसृष्टि कर देता है। उक्त-वैचित्र्य उसमें पग-पग पर है, पर कहीं भाषा भारी या बोझिल नहीं हो पाती। भाव जहाँ वज़नी होते हैं वहाँ भाषा अपने आप अनुकूल ध्वनि धारण कर लेती है और ध्वनि का तो वह कवि अनुपम स्रष्टा है। एक उदाहरण लीजिये :—

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिम्वरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥

रात में राजमार्ग पर बढ़ती हुई मशाल से जिस प्रकार निकट की अटारी चमक उठती है पर उसके आगे बढ़टे हो जैसे वह धूमिल हो जाती है, साथ ही अगलीं अटारी प्रकाशित हो उठती है, उसी प्रकार जिस-जिस राजा के निकट से होकर यह पति-वरण करने वाली इन्दुमती निकली, वह राजा पहले तो आशा से चमक उठा, पर उसके आगे बढ़ जाने से उस राजा का चेहरा विवर्ण (फक हो गया।

तप करती उमा के सामने ब्रह्मचारी रूपधारी शिव अपने प्रकृति रूप में होते हैं, तब पार्वती की चेष्टा देखने योग्य है—

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसांगयष्टि—
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥

काँपती हुई, स्वेदसिक्त शरीर वाली वह शैलाधिराज तनया पार्वती आगे रखने को उठाए हुए पग पर खडी, शिव को देखकर, मार्ग में आ जाने वाले पहाड़ के सामने पड़ी नदीं की धारा की तरह व्याकुल हो, ऐसी सन्न हो गई कि न तो वह रुक ही सकी और न जा ही सकी। इस

प्रकार के सजीव और मन को स्तम्भित कर देने वाले मूर्तिमान दृश्यों की कालिदास की रचनाओं में भरमार है।

विशद विलास का वर्णन करने वाला प्रकृतितः शृङ्गारिक कवि जब रूप के आदर्श की ओर संकेत करता है, तब वह उसको प्रभाव-पावनता की बात कहे बिना नहीं रह पाता।

यदुच्यते पार्वती पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।

पार्वती यह जो कहा जाता है कि रूप, देखनेवाले को पाप की ओर प्रेरित नहीं करता, उसे उससे ऊपर उठा देता है, वह सच ही है।

कालिदास की जीवन सम्बन्धी सामग्री के अभाव में भी इस प्रकार उसके वर्णन मात्र से जाना जा सकता है कि उसका हृदय कितना मानवीय था, उसकी प्रतिमा कितनी सम्पन्न थी, उसका विलास कितना मर्यादापरिमित था! जनता से उसका इतना घना सम्पर्क था कि उसके अनेक तेवरों का वह वर्णन करता है। उसकी प्रत्येक भाव भंगिमा, उसका दुःख सुख, उसके रीतिरस्म, अहारपेय वसनाभूषण सभी कुछ उसकी रचनाओं में आ गये हैं, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि वह जनता का गायक न था, उसका विशेष संबंध राजकुलों से था। दरबार का जीवन उसके ग्रंथों में फूट पड़ा है और पूरी मात्रा में उसने उसको खोलकर रख दिया है। अंतःपुर के षड्यंत्र, राजाओं के परस्पर आचरण, राजदूतों के सग राजाओं के निंद्य विलास, लाक्षणिक राजनीति, राजनीतिक पत्र तक कवि ने अपने काव्यों और नाटकों में प्रतिबिम्बित किये हैं। उसके ग्रंथों में कहीं सरस्वती और लक्ष्मी के परस्पर द्वेष के कारण साहित्यकारों को कभी साधारण कृतिकारों की भाँति आवश्यकताओं के अभाव में क्षुधार्त नहीं होना पड़ा। उसका जीवन सर्वथा सम्पन्न और प्रसन्न था।

और यदि उसके ग्रन्थों में जहाँ-तहाँ झलक पड़ती उसकी काया को देख उसके जीवन को हम शब्दबद्ध करना चाहें तो कह सकते हैं कि

काश्मीर का वह ज्ञानवान्, प्रतिभा-सम्पन्न, रुचिर और मधुर ब्राह्मण-गायक असाधारण पर्यटक था उसकी पत्नी असाधारण रूपवती थी और वह स्वय उसके प्रति अनुपम रूप से आसक्त था, इतना कि समय-असमय अपनी असक्ति के कारण वह अपने कर्त्तव्य-निवाह में चूक जाता था। इस प्रकार की एक चूक का परिणाम भयंकर हुआ, इतना भयकर कि उसे अपना प्रदेश काश्मीर छोड़कर दूर मध्यभारत में चला जाना पड़ा। सम्भवतः उसका देश-निर्वासन वर्ष भर का था परन्तु वह भी सम्भव है कि उस चूक का दंड भुगत चुकने पर भी शायद वह स्वदेश न लौटा हो परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह अपनी पत्नी से कभी न मिला। उसके पिछले साहित्य में जो शान्ति, सुख और संतोष का वातावरण है, उससे लगता है कि कभी पत्नी का अभाव उसे न रहा होगा। कुछ असंभव नहीं जो अपनी किसी भी चूक से उसे देश से निकाला गया हो, पर उसके बाद वह पत्नी को लेकर मध्यभारत में रहने लगा हो। उसका अगला जीवन राज-दरबार के सम्पर्क में बाता। जीवन उसका लम्बा था, प्रायः ७५ वर्ष का। और उस दीर्घ-जीवन में उसने न केवल गुणों में असाधारण काव्यों-नाटकों की रचना की वरन् उसकी रचनाओं का परिणाम भी विस्तृत हुआ। भवभूति आदि अनेक साहित्यकारों को प्रबल आलोचकों की चोटें सहना पड़ी थीं पर अपने आश्चर्यजनक गुणों के कारण कालिदास को किसी प्रकार की असुविधा न हुई। सभव है, जैसा एक परम्परा कहती है, दिंगनाम जैसे प्रबल दार्शनिक आलोचकों के आघात उस पर भी हुए हों परन्तु उनको उसने कुछ परवाह न की और कभी उसे भवभूति की भाँति दुःखी न होना पड़ा। बल्कि उलटा उसने अपने समय की आलोचना की परम्पराओं को साहस और निर्भीकता पूर्वक धिक्कारा भी है। पहली बार बसन्तोत्सव के अवसर पर उसका पहला नाटक 'मालविकाग्निमित्र' खेला जाता है। तब वह दीन, घबराये हुए नौसिखुए साहित्यकारों-सा आचरण नहीं करता, बल्कि नाटक के पहले अभिनय के अवसर पर उपस्थित रह कर उसके गुण-दोष राजा के

प्रति निवेदन करनेवाले विशेषज्ञों (प्रश्निकों) के सामने उसके औचित्य को सिद्ध करता है। वह कहता है कि भास, सौमिल्य कविपुत्र आदि ख्यातिनामा और यश के धनी नाट्यकारों के नाटकों के रहते भी उसके समकालीन नाटक "मालविकाग्निमित्र" को खेलना उचित ही है, क्योंकि आखिर पुराना होने से ही कोई कृति अच्छी नहीं हो जाती अथवा नई होने से ही कोई रचना निद्य नहीं हो जाती। ईमानदारी से दोनों के गुण-दोषों को देख कर ही उनके कृतित्व को सराहना या त्यागना चाहिये। साधु आलोचना का एक मात्र सिद्धान्त यही है :—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते
मूढः पर प्रत्ययनेय बुद्धिः ॥

कालिदास ने अपनी इस प्रतिज्ञा का समुचित निर्वाह किया और बाद के ग्रन्थों में उसने उस ऊँचाई को छू लिया जो भारतीय कला-शृङ्खला में हिमालय की चोटी थी।

— —

एक चित्र की दो आकृति

सुदर्शन

उन दिनों भी लोग मेरी किताबों को इसी शौक से पढ़ते थे। मेरी कहानियों के लिए लोग उस समय भी इसी प्रकार लालायित रहते थे, किन्तु मेरी आर्थिक अवस्था कुछ सन्तोष-जनक न थी। मिल जाता तो खा लेता न मिलता तो न खाता था, मगर इसे स्वतंत्रता कहिए या मिथ्या अभिमान— मैंने अपनी दशा को किसी पर प्रकट न होने दिया। अन्दर बैठकर चाहे घण्टों रोता रहूँ मगर जब बाहर निकलता तो हँसता हुआ निकलता—ऐसा कि किसी को शक भी न हो सके। भाग्यवश मेरी पत्नी मेरे ही जैसे विचार की हो; बल्कि मुझसे भी दो पग आगे, साहस, दृढ़ता तथा सन्तोष की जीती जागती तस्वीर। मैं घर में बैठ कर रो लेता हूँ, वह घर में नहीं रोती मैंने अंधेरे से अँधेरे समय में भी उसके चेहरे पर मुस्कराहट की रोशनी देखी है। उस मुस्कराहट ने मेरे निराश जीवन के कंटकाकीर्ण मार्ग को पुष्पमय बना दिया है। मैं घबड़ाता हूँ, वह मुझे सँभाल लेती है। मुझे अक्सर ख्याल आता है कि अगर मुझे कोई गहनों और कपड़ों की शौकीन स्त्री मिल जाती तो क्या होता ? क्या, जिन्दगी दूभर हो जाती ! बाहर भी रोता घर में भी रोता, लेकिन परमात्मा बड़ा कारसाज है, उसने हर बीमारी के साथ दवा भी पैदा कर दी है। मुझे लिखने की बीमारी थी, तो साथ ही दवा भी दे दी।

एक बार ऐसा संयोग हुआ कि हमें तीन दिन उपवास करने पड़े। मैं बिलकुल ही छूछा हो गया था, यह बात न थी। पुस्तक प्रकाशकों पर कई सौ रुपये निकलते थे; लेकिन वे कम्बख्त देते न थे। कोई कहता—आज कुछ आया ही नहीं; कोई कहता--आज खर्च हो गया है। मैंने उनकी मिन्नतें कीं, धमकियाँ दीं, लड़ाई झगड़ा किया, कहा—यह तुम्हारा बेहद जुल्म है; सारी रकम एक साथ नहीं दे सकते, तो थोड़ा-थोड़ा जनाब, कौन सुनता है। कहते-जनाब, कुछ दिनों की मुहलत दीजिए, पाई-पाई अदा कर देंगे। आखिर दूकानदार हैं, चोर तो नहीं हैं कि आप के रुपये लेकर भाग जायेंगे। एक दूकान्दार ने यहाँ तक जुल्म ढाया, कि हमारी आँखों के सामने चालीस रुपये में पत्नी के लिए बनारसी लहँगा खरीद लिया। कोई सफरी एजेंट आ गया था। सस्ता देता था। ये महाशय चल पड़े। हमने कुछ माँगा, तो कैश वक्स उलट कर दिखा दिया कि देख लीजिए, सब मिजा कर सवा तेरह आने बाकी हैं। फिर मुस्करा कर यह भी कह दिया, कि घर में आटा न हो तो ले जाइए। उस बेचारे को क्या मालूम था कि मेरे घर मे वस्तुतः आटा नहीं; बल्कि दो दिनों से पति-पत्नी उपवास कर रहे हैं बच्चों को खिला देते हैं, स्वयं पेट पर सब्र का पत्थर बांधकर सो जाते है। हृदय ने स्वीकार न किया कि अपनी साम्प्रत दीनता की कथा यह सुनाऊँ। सख्त सुस्त कहकर चला आया, शायद कोई दूसरा दाता दे दे, लेकिन पता नहीं, उनकी बदनीयती थी, या हमारी बदनसीबी, किसी ने एक पैसा भी न दिया, मैं जैसा गया था, वैसा ही लौट आया बल्कि उससे भी बुरा। उम्मीद लेकर गया था, लाचारी लेकर वापस आया।

अब यह हालत थी कि घर जाने को जी न चाहता था! सोचता था, पत्नी पूछेगी--कुछ मिला, तो क्या कहूँगा, नेकबख्त ने सुबह के

वक्त कहा था आज तो सिर में चक्कर आते हैं । कुछ जरूर लाओ। और आज बच्चों के लिए भी कुछ नहीं है। मैंने उन्हें विश्वास दिलाया था कि आज अवश्य लाऊँगा । जाकर धरना देकर बैठ जाऊँगा। कहूँगा– बाबा मेरी रकम दो तो जाऊँ; वरना मैं यहीं बैठा रहूँगा। धन्ना सेठ नहीं हूँ, कि तीन-तीन महीने हिसाब ही न करूं। सब खाना पीना इसी में होता है; देखता हूँ कैसे नहीं देते; और अब किसी ने कुछ भी न दिया था।

मैं धीरे-धीरे मकान की दूसरी छत पर गया। जैसे विद्यार्थी परीक्षा में अनुत्तीर्ण होकर घर आता है, तो उसके पाँव नही उठते; बच्चा कोई कसूर कर बैठे, तो घर जाते डरता हैं । नीचे गली में दरवाजे के बाहर बच्चे खेल रहे थे। मैं उनसे आंखें चुराकर ऊपर गया और एक चारपाई पर लेटकर अपने जीवन के उस चिंताजनक पहलू पर आँसू बहाने लगा।

श्रीमती जी ऊपर थीं। मेरे पाँव की आवाज सुनकर नीचे चली आई और बिजली का बटन दबाते हुए बोलीं बिजली क्यो नहीं जलाई ? मैंने उनकी तरफ बेबसी की निगाहों से देखा और गरदन झुका ली। गरीबी में आदमी किसी से आँखें मिलाते हुए भी शरमाता है।

वह सब कुछ समझ गई, लेकिन चेहरे पर अब भी वही चिन्ता छाई थी। वे मेरे पास आकर चारपाई पर बैठ गई और बोली जो छोटा क्यों करते हो। आज न सही, कल सही । आखिर कभी तो भगवान् सुनेंगे। रोने से क्या होता है। समय भी नहीं कटता।

मैंने सर्द आह भर कर कहा-आज तो बच्चों के लिए भी कुछ न होगा, क्या खायेंगे ?

श्रीमती–-उनका फिक्र न करो। जो साथ के मकान में पण्डित रहते हैं, उनकी स्त्री ने जबरदस्ती सब को चावल खिला दिए मजे से खेल रहे हैं।

मैं -तुम्हें सुबह चक्कर आ रहे थे उनका क्या हाल है !

श्रीमती अब तो नहीं आते। आप को तो बहम की बीमारी है। जरा कह दूँ, सिर मे दर्द है, फिर क्या मजाल जो सारे दिन भूल जायँ आखिर इस तरह किसी का काम चल सकता है क्या ! आप बाहर भी रोते रहे होंगे। मैं घर में भी हँसती रही हूँ। शायद आप विश्वास न करें, मैं आज गाती रही हूँ। कई औरतें आ गई थी, खूब जलसा रहा।

मगर मेरा ध्यान उधर न था। श्रीमती ने मेरा कंधा झंझोड़कर कहा--यह आप क्या सोच रहें है इस समय !

मैं—सोचता हूँ, कल क्या होगा !

श्रीमती जो कल होता है, वह कल देखा जायगा। इस समय सोचने की आवश्यक्ता नहीं।

मैं— प्रेसवाले का बिल देना है। उसका आदमी आज नहीं आया ?

श्रीमती मेरी आँखों में आँखें डालकर मुस्काई और बोली आया था, मैंने कह दिया—कुछ दिन सब्र करो। जब रुपये हाथ में आएगे, भेज देंगे।

मैं और मालिक मजान ?

श्रीमती (इतमीनान से) वह तो नहीं आया. और आयगा, तो मैं कह दूँगी, अगले महीने में दे दूँगी। इस महीने नहीं हैं. क्या करोगे ? हमारे वी० पी० भी तो वसूल होकर आने वाले हैं। कितने रुपये के होंगे ! पचास एक के करीब ?

मैं दिल में हिसाब करके कहा - इससे ज्यादा के होंगे।

श्रीमती--मेरे ख्याल में दो-तीन मनीआर्डर कल जरूर आवेंगे।

मुझे जैसे सहारा मिल गया। पूछा--तुम्हें कैसे मालूम है ?

श्रीमती--मेरा दिल कहता है, आयेंगे। और देख लेना, जरूर

आयेंगे ! (ताली बजाकर) आज रोजा है, कल ईद होगी ! सेवइयाँ खायेंगे ।

श्रीमतीजी हँसती थीं, मगर मेरे चेहरे पर हँसी न थी । मैं सोचता था इस गरीब ने मेरे साथ व्याह करके क्या सुख पाया ? रोटियों को भी तरसी है, उसकी सहेलियाँ अच्छा खाती हैं, अच्छा पहनती हैं । इसे खाने को भी मयस्सर नहीं । यह दिल में क्या कहती होगी !

इतने में किसी ने नीचे से आवाज दी—महाशयजी ?

मैं चौंक पड़ा । यह कौन है ? मैं जबाब देते हुए भी डरता था कि नहीं कोई कर्ज-ख्वाह न निकल पड़े । शायद मालिक-मकान ही आ गया हो ।

श्रीमती जी ने कहा—बाबा जैमलसिंह हैं, बुला लो ।

वही थे । मेरी जान में जान आई । उच्च स्वर से कहा—आइए !

जैमलसिंह लाहौर के सबसे बड़े रईस बाबा डंगासिंह साहब के पुत्र थे । लाहौर में ऐसा विद्या प्रेमी दूसरा कम होगा । उन्हें पुस्तकावलोकन का बेहद शौक था, और मेरी रचनाओं के तो आशिक थे । मेरी एक-एक कहानी उनको जबानी याद थी । मेरी एक-एक किताब उनकी लाइब्रेरी में थी । मुझे उन पर पूरा-पूरा भरोसा था । वह मेरी खातिर सब कुछ करने को तैयार थे । यदि उन्हें मेरी साम्प्रत दशा का ज्ञान होता, तो वह आटे की बोरियाँ और घी के टीन भेजवा देते, किन्तु मैं लेखक हूँ और लेखकों में आत्म गौरव की मात्रा विशेष होती है । मैं घर में रो सकता हूँ, किन्तु किसी के सामने अपनी आवश्यकता प्रकट नहीं कर सकता था । यहाँ तक कि बाबा जैमलसिंह-जैसे प्रिय मित्र के सामने भी नहीं ।

श्रीमती दूसरी चारपाई पर जा बैठीं । बाबा साहब ने ऊपर आकर हम दोनोंको 'नमस्ते' किया और मेरे पास चारपाई पर बैठकर कहा—

आज रातको हम लोग नाटक देखने जा रहे हैं. आपको भी चलना होगा। यह लीजिए दर्जा खासका टिकट, आपकी सीट बुक हो चुकी है ! मैं नौ बजे मोटर लेकर आऊँगा तैयार रहिये। आज बड़ी भीड़ है।

मैंने हैरान होकर जैमलसिंह की ओर देखा और धीरे से कहा —

बाबा साहब, मैं आज तो न जा सकूँगा।

बाबा साहब ने पहले कोट की जेब से चार और टिकट निकाल कर मेरे सामने चारपाई पर फेला दिए, फिर मेरे हाथ में दियासलाई की डिबिया दे दी। फिर पतलून की दोनों जेबों में हाथ डालकर खड़े हो गये और बोले--अगर न चाहें, तो इन्हें जला दीजिये !

मैं व्याग्रता में था। रुखाई से बोला—बाबा साहब, यह आपकी सरासर ज्यादती है। अगर आज मैं न जा सकूँ, तो क्या करूँ। इतने और आदमी हैं। उन्हें ले जाइए !

जैमलसिंह —मगर महाशयजी, आपके बिना नाटक देखनेका खास मजा आएगा ! आप न जायँगे, तो डाक्टर चोधरी, भटनागर कोई भी न जाएगा। यह समझ लीजिए। यह कहकर जैमलसिंह ने अपनी कलाई पर से वक्त देखा और कमरे में टहलने लगे। श्रीमती ने एक तरफ देख-कर इशारे से कहा—बाबा साहब पास लेकर आए हैं, चले जाओ। मैंने निगाहों में जबाब दिया--मैं आदमी हूँ, कसाई नहीं हूँ, कि तुम यहाँ फाका करो, मैं नाटक देखता फिरूँ।

बाबा साहब आकर मेरे सामने खडे हो गये और बोले—कहिये, आपने क्या फेसला किया ! (श्रीमती की तरफ इशारा करके) क्या इनका खोफ है। इनसे मैं इजाजत लिये देता हूँ।

श्रीमती जी ने जल्दी से कहा—मेरी तरफ से कोई एतरात नहीं है, बड़े शौक से जायँ, बल्कि मैं तो खुद कहने जा रही थी कि आप जाइये, जरा मन बहलाव हो जायगा !

जैमलसिंह ने प्रसन्नता प्रकट की--तो फिर यह कैसे न जायँगे ? इनको जरूर जाना होगा, वरना कोई भी न जायगा। लीजिए महाशय जी, सब टिकट आप ही पास रहेंगे। मैं सब लोगों को लेकर नौ बजे आ जाऊँगा नमस्ते ?

मैं मुँह देखता ही रह गया। जैमलसिंह खट-खट करते हुए नीचे उतर गये। मैंने टिकट उठाये और उनके पीछे भागा, लेकिन मैं अभी दरवाजे ही में था कि उनकी मोटर चली गई। मैं चिल्लाता ही रह गया जैमलसिंह ने मोटर से गर्दन निकाल कर कहा—नौ बजे आऊँगा, नौ बजे। तैयार रहना। ऊपर आया, तो पत्नी महाशय ने हँसकर कहा—चले जाओ अब, क्या हरज है, जरा दिल बहल जायगा। यहाँ रहकर भी क्या कर लेते। वहाँ और नहीं तो, जरा हस-खेल तो आओगे, यही गनीमत है।

मैं—मैं वहां तमासा देखूँगा, यहाँ बैठकर रोओगी, क्यों ?

श्रीमती—वाह रोने की क्या जरूरत है। बैठकर बाजा बजाऊँगी मजे से। अब नींद आयेगी, सो जाऊँगी।

मैं मैं न जाऊँगा। यह जैमलसिंह की सरासर ज्यादती है। यहाँ तीन दिन से फाके कर रहे हैं, उन्हें नाटक की सूझी है।

श्रीमती—उस बेचारे को क्या मालूम, कि यहां यह दशा है, वह तो समझता है, महाशय जी को किसी चीज की परवाह ही नहीं है।

मैं—होगा ? साफ कह दूंगा, आज मैं नहीं जा सकता।

लेकिन जैमलसिंह जबरन घसीट कर ले गये। प्रेम की आज्ञाओं की अवहेलना किसने की है चुपचाप मोटर में बैठ गया साढ़े नौ बजे में दरजा खास में बैठा नाटक देख रहा था। किसे खयाल हो सकता था कि यह आदमी, जो मोटर में बैठकर आया है सात रुपये के दर्जे में बैठा है, और जिसके लिए बाहर मोटर खड़ी है, तीन दिनों का भूखा

होगा। मैं चित्र के उन दो पात्रों को देखता था और कभी हँसता था, कभी रोता था; मगर मित्रों में से किसी को भी ज्ञात न था कि इसके दिल पर क्या कुछ बीतती है।

बारह बजे पहिला अङ्क समाप्त हुआ। हम लोग बातें करने लगे—

जैमलसिंह—अजब चीज़ है; न देखते, तो अफ़सोस रहता। क्यों महाशय जी ?

मैं—बेशक नाटक बहुत बढ़िया है। सीन-सीनरी भी दर्शनीय है।

डाक्टर साहब—ड्रामे का प्लाट भी निहायत उमदा है विलायत में लोग सीन-सीनरी नहीं देखते। प्लाट और एक्टिङ्ग देखते हैं।

चौधरी—हमको सीनरी चाहिए, आप प्लाट देखिए, क्यों भटनागर !

भटनागर—(जोर से हँसकर) हमकों सब कुछ पसन्द है। मास्टर मोहन कमाल का ऐक्टर है।

मैं—क्या कहना, यह आदमी यूरोप में होता, तो सोने का महल खड़े कर लेता

एकाएक जैमलसिंह ने मेरी ओर देखकर कहा—क्यों महाशयाजी, कुछ खाओगे ? मेरे पेट में चूहे दौडने लगे।

मैं—भूख तो मुझे भी लगी है।

जैमलसिंह तो आइए, बाहर चलें; देखें क्या मिल सकता है। अगर गरम-गरम पूरियाँ मिल जायँ, तो मजा आ जाय !

हम दोनों बाहर आये। पूरियाँ बन रही थीं। मगर खरीददार इतने थे कि मुझे निराशा सी हो गई। जैमलसिंह ने भीड़ में घुसकर हलवाई से कहा—यार, तुम हमें अन्दर पूरियाँ नहीं भिजवा सकते ?

हलवाई ने पूरियों का दोना एक आदमी के हाथ पर रक्खा और दूसरे हाथ से पैसे गिनकर कहा—बाबूजी, यहाँ मिल जायँ, तब भी

ग़नीमत समझिए, वहाँ कौन भेज सकता है। यह कहकर पैसे बर्तन में डाल दिए।

जेमलसिंह को तैश आ गया। बोले - फी पूरी एक आना दूँगा, दर्जा खास में भेजो।

हलवाई को आश्चर्य हुआ।

जैमलसिंह हाँ-हाँ, एक आना पूरी। यह लो पाँच का नोट बाकी लौटा देना।

हलवाई ने नोट लेकर व्यापारिक ढङ्ग से कहा चलिए, आप चलिए. आप को वहां पूरी मिलेगी।

जैमलसिंह मगर उस्ताद. गरम गरम मिले!

हलवाई जो जरा भी ठंडी होगी, उसके दाम काट लेना बाबू साहब!

इधर खेल शुरू हुआ, उधर हम लोगों को गरम-गरम पूरियाँ मिलने लगीं मैंने बढ़-बढ़कर हाथ मारे। उस समय उन पूरियों का स्वाद ही और था।

पूरियों के बाद मिठाई आई। लड्डू बहुत उम्दा बने थे। जैमल-सिंह ने एक लड्डू उठाकर मुझे दिया और कहा—महाशय जी, यह लड्डू खाइए, बहुत स्वादिष्ट हैं!

मैंने खाकर देखा, वस्तुतः स्वादिष्ट था, मगर मेरे कलेजे में जैसे किसी ने मुक्का मार दिया मैं यहाँ इस तरह मिठाइयाँ खा रहा था, वहाँ घर में मेरी स्त्री भूखी सो रही थी। कदाचित् इस समय वह भी यहाँ होती!—मैं सोचने लगा।

जब मैं तीन बजे घर पहुँचा, तो मेरे पाँव जमीन पर न पड़ते थे। श्रीमतीजी ने पूछा—नाटक कैसा था?

मैंने कोट उतारते हुए कहा—अच्छा किया, जो मुझे भेज दिया। खूब पूरियाँ और मिठाइयाँ खाई।

८

श्रीमती—अकेले ही-अकेले खा आए। मेरे लिए क्यों नहीं लाए ?

मैं—(मुस्कराकर) चुरा लाता ! तो लो भाई, तुम भी क्या याद करोगी !

यह कहकर मैंने जेब में हाथ डाला और दो लड्डू निकालकर श्रीमती जी के हाथ में रख दिये । श्रीमती जी ने लड्डू मुँह में डाल लिए और कहा—चोर !

मैंने बिस्तर पर लेटकर जवाब दिया धन्यवाद है, मैं चोर हूँ। वरना मैं आदमी न होता, शैतान होता !

मेरी पत्नी ने मुस्कराकर मेरी तरफ देखा और दूसरा लड्डू भी मुँह में डाल लिया।

हम्मीर हठ

श्री हरिकृष्ण प्रेमी

१

(स्थान—रणथम्भौर के महाराव हम्मीर का राजदरबार। स्वर्ण सिंहासन पर हम्मीर बैठे हैं। उनकी दाहिनी ओर की कुर्सी खाली है। बायीं ओर मीर महिमाशाह बैठे हैं। मीर महिमा के बाद सुरजन सिंह हैं ! कुछ और दरबारी भी बैठे हैं।)

हम्मीरसिंह—मेरे बहादुर भाइयों, आज हमारे लिए सु अवसर आया है मीर महिमाशाह जैसे बहादुर हमारी जाति में शामिल हुए हैं।

एक दरबारी—हमारी जाति में !

हम्मीरसिंह—हः हः हः ! तुम डर गये, भूरिसिंह जी राठौर। जाति में शामिल होने से मेरा मतलब यह नहीं है कि उन्होंने हमारा धर्म स्वीकार कर लिया है सभी बहादुरों की एक जाति है। चाहे मुसलमान हों, चाहे हिंदू चाहे किसी और जाति का, जो बीर है वह हमारा सगा है, वही हमारी जाति का है। इसी दृष्टि से मैंने मीर महिमाशाह को अपना भाई बनाया है। जब से महिमाशाह यहाँ आये हैं उनकी शक्ति, चातुर्य और सज्जनता ने मुझे उनका अधिकाधिक प्रेमी ब गया है। मेरी खुशी का छोर नहीं मिलता सुरजनसिंह, लेखा को बुलवाइये। आज जमकर जलसा मनाया जाय।

सुरजनसिंह—जो आज्ञा, महाराव ! अभिवादन करके प्रस्थान)

भूरिसिंह राठौर—धृष्टता क्षमा हो तो कुछ निवेदन करूँ।

हम्मीरसिंह—जो किसी की तलवार को नहीं रोकता, वह क्या किसी की जबान रोकेगा ? दिल में रखे रहना राजपूतों का स्वभाव नहीं है। अपनी बात राजपूतों को अवश्य कहनी चाहिये।

भूरिसिंह—मैं अपने अतिथि का अनादर नहीं करना चाहता. उनके मुँह पर कुछ कहना सभ्यता के विरुद्ध समझता हूँ।

मीर महिमा-- बहादुर आदमी साफ कहना पसन्द करता है। इसमें अनादर की क्या बात ? आप कहिए।

भूरिसिंह --जब शेष भारत पराधीनता के पास में बँध चुका है. हमें सावधानी से काम लेना चाहिए। इसमें सन्देह करने की गुञ्जाइश नहीं कि मीर साहब बहुत बीर, उदार और सज्जन हैं। फिर भी अचानक ही किसी सज्जन पुरुष पर भी इतना विश्वास नहीं करना चाहिए। मीर साहब को आप जो सुख-सुविधा देना चाहें, दें; लेकिन रणथम्भौर की सीमा में, राजनीति के अंतःपुर में, मैं इनका प्रवेश उचित नहीं समझता।

(सुरजनसिंह का लेखा के साथ प्रवेश। दोनों का अभिवादन के पश्चात् यथास्थान बैठना)

हम्मीर--भूरिसिंह, आप मीर साहब के संसर्ग में आयेंगे तो सन्देह के बादल स्वयं हट जायेंगे। वह पीछे देखा जायगा, अभी तो थोड़ा मनोरञ्जन होने दो। (लेखा से) छेड़ो न लेखा, तुम अपनी तान। सङ्गीत के प्रवाह में यह राजनीति की भ्रान्ति बह जाय। नीरस जीवन में रस की वर्षा हो।

लेखा--(गान और नृत्य) छेड़ो बंशी की तान।

मैं नाचूँ ता-ता थैया,
तृण चरना भूले गैया,
है वायु बही पुरवैया,
है हमें न अपना ज्ञान,. छेडो बंशी की तान।

पथ रोक रहे पुरवासी,
पर बढ़ती आती दासी,
है जहाँ हृदय की काशी,
है चले वहीं पर प्राण, छेड़ो बंशी की तान।

तुम मरुथल में जीवन के,
आओ-आओ घन बन के,
मैं नाँचू मयूर बन के,

बरसाओ रस अनजान, छेड़ो बंशी की तान।

(महाराव के चाचा रणधीरसिंह का प्रवेश। हम्मीर खड़े होते हैं। अन्य दरबारी भी। सङ्गीत रुक जाता है। रणधीरसिंह अपना आसन ग्रहण करते हैं। सब बैठते हैं।)

हम्मीर लो लेखा! (पुरस्कार देते हैं) अब जाओ।

लेखा अभिवादन करके प्रस्थान करती है।)

रणधीरसिंह —हम्मीर वीरों के जीवन में मनोरञ्जन होना चाहिए। रेगिस्तान में कहीं भी ताल बावड़ी और हरियाली न हो तो क्या वहां ऊँट जैसा नीरस जानवर भी रह सकता है? किन्तु रस की वंशी बजाने का भी समय होता है!

हम्मीर चाचाजी, राजपूती मर्यादा का पालन करने में आप का भतीजा कभी अयोग्य सिद्ध न होगा।

रणधीर - यह मैं जानता हूँ। तुम हमारे कुलके आशा-सूर्य हो। हमें तुम्हारे शौर्य और बल का विश्वास है। फिर भी आँखें बन्द करके रहना ठीक नहीं मीर महिमाशाह की मित्रता हमारी परीक्षा लेने वाली है। यह देखो, दिल्ली से दूत पत्र लेकर आया है।

हम्मीर—पढ़ दीजिये, चाचा जी! (रणधीरसिंह पत्र पढ़ते हैं)
महाराव हम्मीरसिंह जी,

हमें यह जानकर अचरज हुआ कि आपने हमारे दुश्मन मीर-महिमाशाह को पनाह दी है। आज तक हमने आप को अपना दोस्त समझा है। इसलिये आप से अर्ज करते हैं कि हमारे दुश्मन को अपनी रियासत की हद से निकाल दें और आप ने ऐसा नहीं किया तो

दिल्ली की ताकत रणथम्भोर के घमण्ड को चकनाचूर करने में कुछ उठा न रखेगी।
आपका--अलाउद्दीन

हम्मीर--दिल्ली की ताकत? जिस दिल्लीपर कभी हमारा अधिकार था, वहीं से यह धमकी आ रही है। कहिये भूरिसिंहजी, क्या किया जाय।

भूरिसिंह--राजपूत धमकी का जवाब तलवार से देता है। अभी तक मैं मीर साहब को आश्रय देने के पक्ष में नहीं था; किन्तु जब उनका यहाँ रहना हमारी राजपूती आन का परीक्षा चाहता है तो हम उससे हटना कायरता समझते हैं।

सुरजनसिंह महाराव, वीरता अच्छा गुण है किन्तु वीरता के अभिमान में हमें आत्म-हत्या नहीं करनी चाहिये। मुट्ठी भर सैनिकों से सुविस्तृत और सुसङ्गठित शक्ति का सामना कैसे किया जायगा।

मीर महिमा—महाराव, इस नाचीज के लिये इतनी बरबादी और तबाही क्यों न्योतते हैं। मैं अकेला ही दिल्ली के भरे दरबार में अलाउद्दीन से निबट लूंगा। मुझे जाने दीजिये।

हम्मीर आप राजपूती आन से शायद परिचित नहीं हैं, मीर साहब! आपको जाने देना ही हमारी पराजय है। राजपूत शरणागत के लिये सर्वस्व न्योछावर कर देता है। रणथम्भोर में जबतक एक भी राजपूत जीवित है वह आपका अङ्ग रक्षक बन कर रहेगा

मीर महिमा—यह है इंसानियत का सच्चा नमूना। दिल चाहता है अपनी हस्ती को जलाकर आपकी आँखों का सुरमा बना दूँ। ऐसे इन्सानों को मैं हैवानों के हवाले नहीं करना चाहता

हम्मीर हम हैवानों के दाँत खट्टे करना जानते हैं। मीर साहब। हम अपनी आन पर अड़े हुए मर जायगे; युग-युग तक अमर हो जायंगे। यदि आप को शत्रु के हवाले कर देंगे तो जीते-जी मर जायगे।

मीर महिमा—आप हठ करते हैं,

हम्मीर—हाँ मैं हठ करता हूँ। याद रखिये, 'तिरिया-तेल, हम्मीर-

हठ चढ़े न दूजी बार।' बोलो, मेरे वीर सरदारों, तुम्हें मेरा निश्चय स्वीकार है ?

सब—हाँ स्वीकार है।

हम्मीर—मैंने कहा था न, आज सु-अवसर है। अब आप लोग जायं।

(सब का प्रस्थान। पट-परिवर्तन।)

२

(स्थान—रणथम्भोर का राज-महल)

(महाराज हम्मीरसिंह वीर वेश में खड़े हैं।)

हम्मीर—चौहानों की तलवार का तेज क्षीण नहीं हुआ; लेकिन खजाना खाली हो गया है, रसद समाप्त हो गयी है। वीरत्व का नहीं, साधनों का अभाव भारत के सबसे प्रसिद्ध क्षत्रिय-कुल की आहुति लेकर मानेगा। लेकिन समाप्त होने के पहले अग्नि-पुत्र अपने तेज की चकाचौंध से दिशाएँ प्रकाशित कर देंगे।

(मीर महिमा का सैनिक वेश में प्रवेश।)

मीर महिमा—महाराव, आज मैं आपसे आखिरी बिदा लेने आया हूँ। इतने दिन आपने मुझे अपनी मुहब्बत और मेहरबानी के साये में रखा है। उसकी याद मेरी रूह में समा गयी है। इन्सान कौन है, यह तो मैं आपको देखकर ही जान पाया हूँ। आज आपने मुझे अपनी फौज का सिपहसालार बनाकर मुझ पर कितना यकीन किया है ! आज मैं अपनी जिन्दगी का सबसे बड़ा काम करने जा रहा हूँ। आज की लड़ाई मेरी किस्मत का फैसला कर देगी।

हम्मीर—साथ ही रणथम्भोर की किस्मत का भी। इतने दिन राजपूतों के साथ रहकर आपने राजपूतों के स्वभावको जान लिया है। आप दिल्ली की फौज की युद्ध-प्रणाली भी जानते हैं। आपसे अच्छा सेनापति रणथम्भोर को नहीं मिल सकता। चाचा साहब जो कार्य न कर सके वह आप कर दिखायेंगे। आपको अवश्य विजय प्राप्त होगी।

(महारानी देवल और राजकुमारी चन्द्रकला का प्रवेश। चन्द्र-कला के हाथ में थाली है। उसमें टीका करनेका सांमान है।)

महारानी--मेरा भी आशीर्वाद है कि मेरा भाई आज अपना नाम अमर कर दे अपने साथ रणथम्भौर की सेना का भी नाम गौरव के उच्च शिखर पर पहुँचा दे

(राजकुमार जय और विजय का वीर वेश में प्रवेश।)

(आकर महारानी और महाराव के पैर छूते हैं।)

महारानी- यशस्वी हो बेटा ?

हम्मीर--चौहानों के रक्त का गौरव बढ़ाओ कुमार ! मीर महिमा, आज दोनों कुमार आपकी आधीनता में संग्राम करेंगे।

मीर महिमा--लेकिन इन जिगर के टुकड़ों को उस खतरनाक लड़ाई में भेजने की क्या जरूरत है ?

हम्मीर--अब आवश्यकता आ पड़ी है कि हम अपनी मूल्यवान वस्तु का भी मोह न करें। जन्मभूमि आत्म-त्याग और बलिदान मांगती है।

महारानी--अतिथि हमारा देवता है। अतिथि के लिए हम अपनी प्यारी से प्यारी वस्तु देने में सङ्कोच नहीं करतीं।

मीर महिमा--(गद्गद होकर) बहन, आप जिस ऊँचाई से बोल रही हैं वहाँ तक क्या दुनिया वाले पहुँच सकते हैं ? अपने जिगर के टुकड़ों, अपनी आँखों के तारों, अपने मुल्क की उम्मीदों को इस नाचीज के लिए खतरे में न डालिये। मैं हाथ जोड़कर आप से भीख मांगता हूँ। आप अत्याचार कर रहीं हैं अपने ऊपर, मेरे ऊपर और रणथम्भौर के ऊपर।

महारानी--देखो महिमाशाह, यह ठीक है कि मैं मां हूँ, यह भी ठीक है कि युद्ध-भूमि में जीवन और मरण के किनारे मिल जाते हैं। फिर भी शायद आप क्षत्राणी के हृदय को नहीं समझ सके। जिस दिन क्षत्राणी का पुत्र युद्ध-भूमि को प्रस्थान करता है, उसका मातृत्व उसी दिन धन्य होता है।

जय—मीर साहब, आप हमारी चिन्ता न करें। जब जन्म-भूमि के मान का प्रश्न उपस्थित है, तब प्रत्येक युवक का कर्तव्य है, कि वह अपना बलिदान चढ़ाने को प्रस्तुत हो जाय।

विजय—मां के मन्दिर में राजपुत्र और साधारण सैनिक के मस्तक का मूल्य बराबर है, मामा साहब! जब आज सहस्रों सैनिकों के शीशों के लिए चिन्तन नहीं तो इन दो खोपड़ियों का इतना मोह क्यों? फिर हम निरे बच्चे नहीं हैं। हम अपनी कीमत स्वयं समझते हैं। मातृभूमि के रज-कण महाराव के पुत्रों से अधिक मूल्यवान है, मामा साहब!

हम्मीर—आज मेरे आनन्द की सीमा नहीं। आज मेरे प्राणों के अंश अपना शौर्य दिखाने जा रहे हैं। मेरे पुत्रों, मुझे पूरा विश्वास है कि तुम अपने तेज की चकाचौंध से शत्रु की आंखों को चौंधिया दोग। रक्त की गङ्गा में स्नान करके आज अग्निपुत्रों की आत्मा तृप्त होगी।

जय—पिता जी आपने हमारे लिए देश की मान-रक्षा करने का जो सौभाग्य उपस्थित किया, हमें अपना पौरुष दिखाने की जो आज्ञा दी उसके लिए हम अनुगृहीत हैं। आप के यश की आज भारत के कोने-कोने मे चर्चा है। हमारे हाथों में भी आप की हां स्फूर्ति है। हमारी आंखों में आप की ही बिजली है। हमारे प्राणों में आप का ही जोश है। हमें विश्वास है हम परीक्षा में उत्तीर्ण होंगे।

राजकुमारी—हां भैया, तुम्हारा नाम ही जय-विजय हैं। पराजय तुम्हारे पास नहीं आ सकती। तुम ध्वजा फहराते हुए जाओ और ध्वजा फहराते हुए लौटो। राजकुमारों को लड़ते हुए देखकर हमारी सेना में जोश का समुद्र उमर पड़ेगा। मेरी भी इच्छा होती है कि मुझे भी युद्ध भूमि म जाने का अवसर मिले।

विजय—जिस दिन हमारा खून पानी हो जायगा, बहन; उस दिन तुम्हें शस्त्र पकड़ने की आवश्यकता पड़ेगी।

राजकुमारी—किन्तु हमें शस्त्र-संचालन सिखाया क्यों जाता है?

हम्मीर—आत्म-रक्षा के लिए, बेटी। क्षत्रिय मान को प्राणों से प्रिय मानता है। देश का मान हमें जितना प्रिय है, उतना ही नारी का भी। जब तक एक भी क्षत्रिय जीवित है, उसकी आंखों के सामने किसी नारी का अपमान नहीं हो सकता। लेकिन कभी ऐसे क्षण आ सकते हैं कि नारी को आत्म-निर्भर होना पड़ता है; उस क्षण के लिए ही तुम्हें शस्त्र-सञ्चालन की शिक्षा दी जाती है, बेटी!

महारानी—हां बेटी, आज तक किसी नारी के कारण क्षत्रियों को आंखें नीची करने का अवसर नहीं मिला। जब शस्त्र बेकार हो जाते हैं, ज्वाला हमें चिरपवित्र कर देती है। लपटों की साड़ी पहनकर हम अमरत्व के लोक को प्रस्थान कर देती हैं।

राजकुमारी—आओ, रण-यात्रा के पहले बहन को टीका करके आशीर्वाद दे लेने दो।

(दोनों राजकुमार आगे बढ़ते हैं। राजकुमारी टीका करती है।)

राजकुमारी—भैया, संसार के आकाश में तुम्हारे तेज का सूर्य युग-युग तक चमके।

जय-विजय—तुम्हारा आशीर्वाद सत्य हो।

महारानी—आइए मीर साहब, आप को भी टीका लगाकर रण-यात्रा को भेजूँ। (मीर महिमा आगे बढ़ता है।)

महारानी—(टीका लगाती है) मेरे भाई, तुम पर मनुष्यता को युग-युग तक अभिमान रहे।

मीर महिमा—(महारानी के चरणों में गिरकर) मेरे दिल की यही ख्वाहिश है कि जिस मुल्क में ऐसी हस्तियाँ पैदा होती हैं, उसकी खाक में मैं भी मिल जाऊं। यही तमन्ना लेकर मैं आज जा रहा हूँ।

(पटाक्षेप)

लेखक-परिचय

अज्ञेय

जन्म १९११ ई० में, कुशी नगर में हुआ। पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन है, परन्तु साहित्य-जगत में 'अज्ञेय' के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। पिता हीरानन्द शास्त्री पुरातत्त्व विभाग के अधिकारी थे। शिक्षा मद्रास, लाहौर आदि विभिन्न स्थानों में हुई। शिक्षा आई० एस-सी० तक। साइन्स के विद्यार्थी होते हुये भी साहित्य में विशेष रुचि रखते हैं। जो साहित्यिक कार्य इन्होंने किया अथवा कर रहे हैं वह हिन्दी-साहित्य में ही हैं। यों कुछ पुस्तकें अंग्रेजी में भी हैं।

विद्यार्थी अवस्था में ही इनका सम्बन्ध क्रान्तिकारी दल के साथ हो गया था। फलस्वरूप ये लाहौर षड्यन्त्र केस में गिरफ्तार कर जेल भेज दिये गये। कई वर्षों बाद जेल से निकलने पर ये कलकत्ते के 'विशाल भारत' नामक मासिक पत्र में सम्पादन कार्य करने लगे। द्वितीय महायुद्ध-काल में ये सेना-विभाग में जनसम्पर्क अधिकारी के पद पर कार्य करते रहे। उसके बाद कुछ वर्षों तक 'आल इण्डिया रेडियो' के समाचार-विभाग के मुख्य अधिकारी के पद पर कार्य करते रहे। स्वतन्त्र-वृत्ति होने के कारण ये सरकारी नौकरी अधिक दिनों तक न कर सके और उसे छोड़ कर स्वतन्त्ररूप से लेखन और सम्पादन का कार्य करने लगे। साहित्यिक कार्यों के सिलसिले में ये कई बार विदेश यात्रायें भी कर चुके हैं। इस समय अमेरिका के 'कैलिफोर्नियाँ विश्वविद्यालय' में अध्यापन का कार्य कर रहे हैं।

यों तो ये विद्यार्थी अवस्था से ही कविता और कहानी लिखने लगे थे, किन्तु इनकी प्रौढ़ रचनाएँ इनके जेल जीवन से ही प्रारम्भ

हुई। जेल में रहते हुए ही इन्होंने 'शेखर: एक जीवनी' नामक उपन्यास दो भागों में लिखा। जेल से निकलने के बाद इन्होंने काव्य-क्षेत्र में विशेष कार्य किया। हिन्दी की प्रयोगवादी काव्यधारा का प्रारम्भ करने में इनका विशेष योग है। कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में भी आधुनिक हिन्दी लेखकों में इनका प्रमुख स्थान है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अनेक आलोचनात्मक और व्यक्ति व्यञ्जक निबन्ध तथा यात्रा-वर्णन भी लिखे हैं। इनकी भाषा संस्कृत-निष्ठ और गम्भीर भावों को वहन करने में पूर्ण समर्थ है। साहित्य के सभी क्षेत्रों में नवीन शैलियों का प्रारम्भ करके इन्होंने हिन्दी साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किये हैं। इनकी शैली में इनके वैचित्र्यमूलक व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट दिखलाई पड़ती है।

रचनाएँ: भग्नदूत (कविता), विपथगा (कहानियाँ, शेखर: एक जीवनी (उपन्यास दो भागों में) चिन्ता (काव्य), परम्परा (कहानियाँ), कोठरी की बात (कहानियाँ), त्रिशंकु (निबन्ध-संग्रह) इत्यलम् (कविता 'अरे यायावर, रहेगा याद' भ्रमण-कहानी), नदी के द्वीप (उपन्यास) आत्मनेपद (निबन्ध संग्रह), हरी घास पर क्षण भर (कविता) आदि।

—:&:—

काका कालेलकर

श्री दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर की शिक्षा पूना के फर्ग्युसन कालेज में हुई। ये महाराष्ट्रीय हैं पर इन्होंने अब गुजरात को ही अपना लिया है। ये गुजराती के उच्चकोटि के लेखक और निबन्धकार हैं। प्रसिद्ध कांग्रेस-कर्मी, शिक्षाशास्त्री और देश-प्रसिद्ध विचारक हैं। आज-

कल 'मङ्गल प्रभात' नामक हिन्दी पत्र का सम्पादन भी करते हैं। काका कालेलकर हिन्दी में भी लिखते हैं! इनके निबन्ध विचार की दृष्टि से तो उच्चकोटि के होते ही हैं, साथ हो उनमें यथावसर संयत भावुकता का भी मनोरम मिश्रण रहता है, जिससे उनकी मार्मिकता बहुत बढ़ जाती है।

हिन्दी में उपलब्ध प्रमुख ग्रंथः—जीवन-साहित्य, लोकजीवन सप्रसरिता, हिमालय की यात्रा, बापू की झाँकियाँ आदि।

—:§:—

कृष्णदेव प्रसाद गौड़

. इनका जन्म आजमगढ़ जिले में हुआ था। इनकी शिक्षा-दीक्षा काशी में हुई और वहीं डी० ए० वी० कालेज में ये अध्यापक का कार्य करने लगे उन्नति करते-करते अन्त में ये उस कालेज के प्रधानाचार्य हो गये। सन् १९५८ में इन्होंने कार्य-भार से अवकाश ग्रहण किया तत्पश्चात् उत्तर प्रदेश विधान परिषद् के राज्यपाल द्वारा मनोनीत सदस्य हुए। काशी के साहित्यिक-क्षेत्र में इस समय इनका सर्व प्रमुख स्थान है।

श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़ हिन्दी के हास्य-रस के आधुनिक लेखकों में सबसे अधिक प्रख्यात हैं। वस्तुतः हिन्दी में हास्य और व्यङ्ग-प्रधान कविता तथा गद्य का प्रारम्भ इन्होंने ही किया। इनका उपनाम 'बेढब' है और कविरूप में ये बेढब बनारसी' के नाम से विख्यात है कविता के अतिरिक्त इन्होंने हास्य-प्रधान कहानियाँ, उपन्यास, निबन्ध और एकांकी नाटक भी लिखे हैं।

इनकी शैली बडी ही चमत्कारपूर्ण और चुटोली है। उर्दू के हास्य-रस के कवि अकबर इलाहाबादी की भांति इन्होंने जीवन के सभी

क्षेत्रों की विषमताओं, बुराइयों पर बहुत ही विनोदपूर्ण ढङ्ग से जमकर चोट की है। इनका हास्य गम्भीर और शिक्षा-प्रद है। केवल मनो-रञ्जन के लिए ही इन्होंने रचनाएँ नहीं लिखीं इन्होंने प्रेमचन्द की भाँति ग्राम बोलचाल के शब्दों और मुहाविरों का प्रयोग बहुत किया है। इनके वाक्य छोटे-छोटे, सरल किन्तु भाव-व्यक्त करने में समर्थ होते हैं। क्लिष्ट संस्कृत शब्दों का प्रयोग इन्होंने कहीं नहीं किया है। इसके विपरीत उर्दू और अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग इनकी भाषा में बहुलता से मिलता है। इनके निबन्धों में प्रतापनारायण मिश्र की भाँति जिन्दादिली, चुलबुलापन और बात से बात निकालने की प्रवृत्ति बहुत अधिक मिलती है; इस कारण इनके अधिकांश निबन्ध 'व्यक्तिव्यञ्जक' शैली के हैं! हास्यरस का उपन्यास लिखकर इन्होंने एक नया प्रयोग किया है। इनके निबन्धों की शैली ऐसी निराली और चुटीली है कि अन्य कोई लेखक उसका अनुकरण अब तक नहीं कर पाया।

रचनाएँ—बेढब की बहक, बिजली, मसूरी वाली, लफटंट पिग्सन की डायरी, बनारसी एक्का, बेढब के एकांकी, सहित्य प्रवाह, उपहार, धन्यवाद।

———

जयशंकर 'प्रसाद'

प्रसाद जी का जन्म सं० १९४६ में काशी में सुंघनी साहु के यहाँ हुआ था। आपके पितामह शिवरत्न साहु सुंघनी के प्रसिद्ध व्यापारी थे। तभी से प्रसाद जी का परिवार सुंघनी साहु के नाम से प्रसिद्ध हो गया था। प्रसाद जी की किशोरावस्था में ही पिता का देहान्त हो गया। इससे प्रसाद जी की पढ़ाई रुक गई। अब घर पर ही आपने अध्ययन आरम्भ किया और हिन्दी, उर्दू, फारसी, अंग्रेजी तथा संस्कृत

का ज्ञान प्राप्त किया। संस्कृत के आप अच्छे विद्वान थे। अत्यन्त हृष्ट पुष्ट और गम्भीर मुद्रा एवं शान्त स्वभाव आपके व्यक्तित्व के प्रमुख गुण थे। आपके शरीर में आर्यों की अपूर्व भव्यता थी। साहित्य के आप सच्चे प्रेमी थे। सं० १९९४ में ही अल्पायु में आपका स्वर्गवास हो गया। इस थोड़े से जीवन में ही आपने अत्यन्त श्रेष्ठ और प्रभुता सम्पन्न साहित्य की रचना की।

प्रसाद जी छायावादी-युग के युग-प्रवर्तक साहित्यकार थे। छायावादी काव्य की समस्त विशेषताएँ आपके काव्य में भावों की कोमलता और मार्मिकता है। प्रेम की तीव्र अनुभूति के चित्रण में आपने विशेष कौशल दिखलाया है। 'कामायनी' आपका महाकाव्य है जिसमें मानव हृदय की अनेक अनुभूतियों का सरस चित्रण है। जीवन की विषमताओं को त्यागकर एक सरल सामन्जस्यपूर्ण भाग पाने की ओर इसमें संकेत किया गया है। प्रकृति चित्रण प्रसाद जी का अत्यन्त सजीव और मोहक है।

प्रसाद जी की भाषा अत्यन्त मधुर और कोमल अनुभूतियों के अनुकूल है। प्रारम्भ में वे ब्रजभाषा में लिखा करते थे, पर आगे चलकर खड़ी बोली में लिखना प्रारम्भ किया। इनकी शैली में विविधता है। आधुनिक गीतों की अनेक शैलियों का व्यवहार इन्होंने किया है।

रचनाएँ—काव्य–कामायनी, आँसू, झरना, लहर आदि। नाटक-आजात शत्रु, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि। उपन्यास-कंकाल, तितली। कहानी संग्रह-आकाशदीप, आंधी आदि।

प्रतापनारायण मिश्र

(जन्म संवत् १६३१ : निधन १९५१) :—जन्म कानपुर के बैंजे गाँव में हुआ। बहुत मामूली शिक्षा पा सके पर अपने अध्यवसाय से इन्होंने संस्कृत, हिन्दी, अंगरेजी, उर्दू और फारसी का ज्ञान प्राप्त किया। ये भारतेन्दु-युग के विशिष्ट लेखक हैं। गद्य और पद्य दोनों ही में इन्होंने साहित्य निर्मित किया। ये बड़े ही मनमौजी और स्वच्छन्द प्रकृति के विनोदप्रिय व्यक्ति थे। इनकी यह विशेषता इनकी रचनाओं में भी प्रकट हुई है। विनोद-रसिक प्रतापनारायण मिश्र की लेखनी पूर्ण स्वच्छन्द होकर चलती है। इसीलिए उनकी भाषा में यदि प्रवाह और सजीवता है, तो यत्र-तत्र ग्रामीणता की झलक भी। कहावत और मुहाविरे भी हैं और अनुप्रास और श्लेष का चमत्कार भी। अपनी बेतकल्लुफी के कारण निबन्धों में ये पाठकों से बड़ी जल्दी आत्मीयता स्थापित कर लेते हैं। इन्होंने मामूली से मामूली और विलक्षण से विलक्षण विषयों जैसे दाँत, भौं एक, दो, द, ट, त, घूरे कलत्ता बीने, कनातन के डोल बाँधे, आदि—पर निबंध लिखे हैं। ये सभी निबन्ध लेखक को विनोद वृत्ति से चहचहाती शैली के कारण खूब पसन्द किये गये। इसकी प्रतिभा ऐसी प्रखर थी कि साधारण विषयों के माध्यम से भी वह अपना रंङ्ग दिखा देती थी। इन्होने दर्जनों पुस्तकें लिखी हैं और अनुवाद किये हैं। सं० १९४० में इन्होंने 'ब्राह्मण' नाम का एक पत्र निकाला था। इनके कई सौ निबन्ध 'ब्राह्मण' की फाइलों में बंद पड़े हैं।

प्रमुख गद्य रचनाएँ—निबंध-नवनीत, कलिकौतुक रूपक, जुआरी, खुआरी प्रहसन, मोसङ्कट नाटक, कलिप्रभाव नाटक, हठी हम्मीर नाटक, सुचाल-शिक्षा, शैव सर्वस्व।

———

श्रीबालकृष्ण भट्ट

(जन्म सन् १८४४ ई० : निधन सन् १९१४ ई०) :—भट्टजी का जन्म प्रयाग के एक सनातन धर्मावलम्बी परिवार में हुआ था। घर पर ही हिन्दी और संस्कृत की शिक्षा मिली। अध्ययन में विशेष रुचि होने के कारण बाद में उर्दू, फारसी और अंग्रेजी का भी इन्होंने ज्ञान प्राप्त कर लिया कुछ दिनों तक यमुना-मिशन स्कूल और फिर बाद में कई वर्षों तक कायस्थ पाठशाला में अध्यापन किया। जीवन के अन्तिम दिनों में नागरी-प्रचारिणी सभा के हिन्दी शब्दसागर के सहायक संपादक के रूप में कार्य किया। इन्होंने प्रयाग से 'हिन्दी-प्रदीप' नाम का एक पत्र प्रकाशित किया था, जो लगभग बत्तीस वर्षों तक निरंतर निकलता रहा। इन्होंने निबन्धों के अतिरिक्त नाटक और उपन्यास भी लिखे हैं।

भट्ट जी भारतेन्दु-युग के प्रमुख लेखकों में हैं। इनके गंभीर निबंधों पर इनके संस्कृत-ज्ञान और पाण्डित्य की स्पष्ट छाप दिखायी पड़ती है। साधारण विषयों पर लिखे गये इनके मनोरंजक निबन्धों में उस युग की जिन्दादिली भी खूब मिलती है। जिस तरह भट्टजी विचारों में रूढ़िवादी नहीं थे उसी प्रकार शब्दों के प्रयोग में भी रूढ़िग्रस्त नहीं थे। इनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों के अतिरिक्त उर्दू और अंग्रेजी के चलते शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से इनकी भाषा में सजीवता आ गई है।

प्रमुख रचनाएं:—साहित्य-सुमन, भट्ट-निबंधावली (दो भाग) भट्ट-निबंधमाला (२ भाग), सौ अजान एक सुजान, नूतन ब्रह्मचारी।

——

डा० भगवतशरण उपाध्याय

इनका जन्म १९११ ई० में, बलिया जिले के उजियार नामक गाँव में हुआ। इनके पिता रघुनन्दन उपाध्याय इलाहाबाद में एक प्रसिद्ध एडवोकेट थे। इनकी शिक्षा प्रयाग. काशी विश्वविद्यालय और लखनऊ विश्व विद्यालय में हुई। विद्यार्थी अवस्था से ही ये कहानियाँ और आलोचनाएँ लिखने लगे थे। प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति में इनकी विशेष रुचि है। बाद में विश्व-इतिहास, विशेषकर मध्यएशिया और अरब देशों के प्राचीन इतिहास के संबध में विशेष अध्ययन और शोध किया। इन्हें युगोस्लाविया के जाग्रेव विश्वविद्यालय से सम्मानित डाक्टर की उपाधि प्राप्त हुई।

प्रारम्भ में ये लखनऊ संग्रहालय में क्यूरेटर के पद पर कार्य करते रहे। उसके बाद बिड़ला आर्टस् कालेज पिलानी में प्राध्यापक हो गये। इसके बाद कई वर्षों तक इतिहास और संस्कृत पर भाषण देने के सिलसिले में विश्व-भ्रमण किया। इस समय काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के हिन्दी-विश्वकोष के संपादक के रूप में कार्य कर रहे हैं।

ये इतिहास, संस्कृति, कला, साहित्य आदि अनेक विषयों के गहन अध्येता और विद्वान हैं। इनकी कालिदास का भारत, विश्वसाहित्य की रूप रेखा, और ऋग्वेदकालीन नारी नामक पुस्तकें बहुत ही ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं। यद्यपि इन्होंने बहुत सी कहानियाँ लिखी हैं, परन्तु इनकी विशेष ख्याति निबंधकार और आलोचक के रूप में ही हैं। इनकी भाषा प्रवाहपूर्ण और प्राञ्जल हैं। यद्यपि संस्कृति-निष्ठ शब्दों का प्रयोग पर्याप्त किया है, परन्तु उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों से भी परहेज नहीं किया है। विषय प्रतिपादन के लिए ही इनकी भाषा में विस्तार अधिक हैं, जिससे पाठकों के लिए विषय सरल और बोधगम्य बन जाता है

रचनाएं:—गर्जन, सवेरा, संघर्ष, ठूंठा आम, सांस्कृतिक निबंध, कालिदास के सुभाषित, वो दुनिया, खून के छींटे इतिहास के पन्नोंपर, इतिहास साक्षी है, सागर की लहरों पर आदि।

———

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

(जन्म सन् १८६४ ई० : निधन १९३८ ई०) :—जन्म रायबरेली जिले के दौलतपुर ग्राम में हुआ था। स्कूल की शिक्षा समाप्त कर जी० आर० पी० रेलवे में नौकरी कर ली घर पर ही संस्कृत, हिन्दी, मराठी, अंग्रेजी और बङ्गला का अध्ययन किया। लिखने पढ़ने की रुचि आरंभ से ही थी। सन् १९०३ में रेलवे की नौकरी छोड़कर 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन-भार ग्रहण किया। द्विवेदी के पूर्व हिन्दी-गद्य बहुत अव्यवस्थित अवस्था में था। द्विवेदी जी ने उसका जो परिष्कार संस्कार किया उससे हिन्दी-गद्य में एक सुनिश्चित व्यवस्था आयी। हिन्दीगद्य व्यवस्थित बनाने के लिए इन्होंने 'सरस्वती' को ही माध्यम बनाया। इस पत्रिका में द्विवेदी जी स्वयं कविता, निबन्ध और आलोचनाएं लिखते रहे और दूसरों को भी लिखने लिए प्रोत्साहित करते रहे 'सरस्वती' के द्वारा एक ओर तो नये लेखक पैदा हुए, दूसरी ओर मंजे हुए लेखकों को विचारोत्तेजक लेख लिखने की प्रेरणा मिली। खड़ी बोली हिन्दी में कविता लिखने की प्रथा इन्हीं के आन्दोलन के कारण प्रारम्भ हुई।

कठिन से कठिन विषयों को सरल रूप में अच्छी तरह समझाकर लिखना द्विवेदी जी की शैली की विशेषता है। शब्दों के प्रयोग के संबन्ध में ये रूढ़िवादी कभी नहीं रहे। तत्सम शब्दों के अतिरिक्त अरबी, फारसी, तथा अंग्रेजी शब्दों का भी यथास्थान प्रयोग, मुहावरों का यथावसर योजना और संयत एवं सुबोध भाषा में विषय का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन उनकी शैली की सामान्य विशेषताएं हैं।

प्रमुख रचनाएं—अद्भुत आलाप, विचार-विमर्श, रसज्ञ-रञ्जन (संकलन), साहित्य-सीकर, कालिदास की निरंकुशता, कालिदास, हिन्दी भाषा की उत्पत्ति, अतीत स्मृति, वाग्विलास आदि।

डा० रामकुमार वर्मा

इनका जन्म सं० १९६२ मध्यप्रदेश के नरसिंहपुर नामक स्थान में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा के उपरान्त इन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की और वहीं हिन्दी-विभाग में अध्यापक हो गये। बाद में वहीं से इन्होंने डि० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। कुछ वर्षों तक 'मास्को विश्वविद्यालय' में भी हिन्दी का अध्ययन किया। इस समय प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष है।

वर्मा जी की सर्वाधिक ख्याति कवि के रूप में है पन्त, प्रसाद, निराला और महादेवी के बाद छायावादी कवियों में इन्हीं का स्थान सर्वोच्च है। इनकी रचनाएँ रहस्यवादी भावनाओं से ओतप्रोत हैं। कविता के अतिरिक्त इन्होंने हिन्दी साहित्य का इतिहास, नाटक, आलोचनाएँ भी लिखी हैं। हिन्दी के एकांकी नाटककारों में ये अन्यतम हैं।

कविता नाटक तथा आलोचना सब में इनकी शैली एक समान भावुकता युक्त और आवेशपूर्ण है। इसी कारण इनके निबन्धों की शैली भी भावात्मक है। छोटी से छोटी बात को भी ये बहुत फैलाकर तथा अलंकृत बनाकर कहते हैं, जिससे इनके निबन्ध काव्यात्मक और व्यास शैलीय से युक्त हो गये हैं। इनकी भाषा संस्कृत गर्भित और गम्भीर है, किन्तु कहीं कहीं इन्होंने विदेशी शब्दों का भी प्रयोग किया है। इनकी भाषा में मुहाविरों का प्रयोग बहुत कम मिलता है।

रचनाएँ—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, कबीर का रहस्य वाद, साहित्य-समालोचना, चित्ररेखा, चित्तौड़, एकलव्य, रेशमी टाई, कौमुदी महोत्सव, शिवाजी, चार ऐतिहासिक नाटक, पृथ्वीराज की आँखें आदि।

———

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

(जन्म सन् १८८४ ई० निधन १९४१ ई०)—शुक्ल जी का जन्म बस्ती जिले के अगोना नामक ग्राम में एक सरयूपारी ब्राह्मण परिवार में हुआ। इनकी स्कूली शिक्षा एफ० ए० तक हुई थी, किन्तु स्वाध्याय से संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी साहित्य का इन्होंने अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। कुछ समय तक मिर्जापुर के मिशन स्कूल में ड्राइङ्ग मास्टर के रूप में अध्यापन कार्य करते रहे। सन् १९०८ में काशी नगरी प्रचारिणी सभा में हिन्दी शब्द सागर के एक सम्पादक के रूप में आये। इनके पश्चात् ये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक नियुक्त हुये और कुछ दिनों में अनन्तर उक्त विभाग के अध्यक्ष पद को भी इन्होंने सुशोभित किया।

शुक्ल जी सर्वतोमुखी प्रतिभा के साहित्यकार थे। ये कवि, निबन्धकार और आलोचक थे। शुक्ल जी ने आलोचना और निबन्ध के क्षेत्र में स्थायी कीर्ति छोड़ जानेवाले कार्य सम्पादित किये। इनका 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' इनके यश का स्मारक और हिन्दी साहित्य का गौरवग्रन्थ है 'चिंतामणि' के दो भागों में संगृहीत निबन्धों में इनके गम्भीर चिंतन और मौलिक विचार व्यक्त हुए हैं। शुक्ल जी की प्रकृत गम्भीरता इनके निबन्धों और आलोचनाओं में भी प्रतिफलित हुई है। शुक्ल जी ने अपनी रचनाओं में अधिकतर संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है किन्तु व्यङ्ग विनोद के प्रसङ्गों में उर्दू शब्दों और मुहाविरों का भी व्यवहार किया है। किसी बात को तर्क-सङ्गत और स्पष्ट ढङ्ग से कहने की कला में शुक्ल जी पूर्ण पारङ्गत हैं। इनके प्रत्येक वाक्य में अर्थ की एक परम्परा कसी रहती है।

रचनाएँ—चिंतामणि (निबन्ध संग्रह) दो भाग, सूरदास, तुलसी और जायसी की आलोचनाएँ, हिन्दी साहित्य का इतिहास आदि।

—:o:—

श्री राय कृष्णदास

इनका जन्म मार्ग शीर्ष कृष्ण द्वितीया संवत् १९४९ को काशी में हुआ। इनके पिता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई थे। ये नौ वर्ष की अवस्था से ही कविता करने। जिस समय इन्होंने बारहवें वर्ष मे पदार्पण किया उसी वर्ष इनके पिता का स्वर्गवास हो गया। सोलहवें वर्ष में इन्होने 'दुलारे रामचन्द्र' नामक उपन्यास की रचना आरम्भ की, पर वह अधूरा रह गया। इन्होंने साहित्य की अच्छी सेवा की है। साहित्य के विभिन्न अङ्गों पर इन्होंने रचनाएँ की है। बङ्ग साहित्य का भी इनके ऊपर प्रभाव पड़ा है। रवीन्द्र बाबू की देखा देखी 'साधना' की रचना कीं है। ये कला के भी प्रेमी थे। इन्होंने कलाकृतियों का संग्रह किया है, जो अब काशी विश्वविद्यालय का एक अंग है। 'कलाभवन की स्थापना इन्होंने सम्वत् १९७७ में की थी, इसका पूर्वरूप 'भारतीय कलापरिषद् था। इनकी मृत्यु सं० २०२३ में हो गई।

--:०:--

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

मिश्र जी का जन्म काशी में सम्वत् १९६३ मे कश्मीर वासी महाकवि श्री हर्ष के कुल में प्रबोधिनी एकादशी के दिन हुआ था। ये अपने पिता के अकेले पुत्र थे। तीन वर्ष की अवस्था में पिता का देहान्त हो गया। अनेक प्रकार की आर्थिक और पारिवारिक कठिनाइयों के बावजूद इन्होंने अपूर्व धैर्य के साथ अध्ययन क्रम जारी रखा। पहले 'श्री कृष्णवर्णाश्रम' दैनिक पत्र का सम्पादन करते रहे, बाद में मालवीजी य के पत्र 'सनातन धर्म' का सम्पादन कार्य शुरू किया। बाल्यावस्था से पुरानी कविता के प्रति रुचि रहने के कारण ये 'मुकुन्द' उपनाम से ब्रजभाषा में कविता करने लगे, जिसमें ये अत्यन्त प्रसिद्ध हुए। कवि गोष्ठियों में समस्यापूर्ति आशुकवि की प्रतिभा से करते थे। प्रारम्भ में कविता के

साथ-साथ पत्रों में कहानियाँ भी खूब लिखी। काशी विश्वविद्यालय से संस्कृत और हिन्दी में एम० ए० किया।

हिन्दी साहित्य में मिश्र जी का व्यक्तित्व निराला है। इनका व्यङ्गमिश्रित उन्मुक्त हास्य हृदय पर स्थायी प्रभाव छोड़ जाता है। इन्होंने दीन-हीन छात्रों को हमेशा सहायता दी है। जिह्वापर सत्यता और मानस में दृढ़ता इनकी विशेषता है। "भगवान दीन साहित्य विद्यालय" के हिन्दी एम० ए० और अनुसंधान की शिक्षा इन्हीं के निर्देशन में चल रही है, जिसमें काशी के हिन्दी प्राध्यापक अवैतनिक शिक्षण का कार्य करते हैं। इस संस्था के ये सभापति हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के प्रधान मन्त्री भी रह चुके हैं।

इनकी समालोचना प्राचीन भारतीय पद्धति और वर्तमान यूरोपीय प्रणाली के योग से बनी है। भारतीय परंपरा के आधुनिक समालोचकों में मिश्र जी शीर्षस्थ हैं। शुक्ल जी के अनुगामी समीक्षकों में मिश्र जी का प्रमुख स्थान है। सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, घनानन्द, पद्माकर, भिखारी दास आदि मध्यकालीन कवियों के सम्पूर्ण प्राप्य ग्रन्थों का जो शास्त्रीय सम्पादन मिश्र जी ने किया है, वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक भगीरथ प्रयत्न है।

रचनाएं—काव्याङ्ग कौमुदी (२ भाग) बिहारी, घनानन्द, वाङ्मय विमर्श, हिन्दी साहित्य का अतीत (२ भाग), रसिक प्रिया।

श्री सम्पूर्णानन्द

डा० सम्पूर्णानन्द जी का जन्म संवत १९६८ में काशी के एक मध्यम कायस्थ परिवार में हुआ। इन्होंने क्विन्स कालेज बनारस से बी० एस-सी० तथा टीचर्स ट्रेनिङ्ग कालेज प्रयाग से एल० टी० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। अध्यापन की ओर आरम्भ से ही रुचि होने के कारण आप प्रेम महाविद्यालय वृन्दावन, इन्दौर, बीकानेर तथा काशी विद्यापीठ में अध्यापन-कार्य कर चुके हैं। काशीमें रहते हुए सम्पूर्णानन्द जी ने राजनीति में प्रवेश किया और सक्रिय भाग लेना आरम्भ किया। उसी के कारण जेल-यात्रा भी करनी पड़ी। आप राजनीति के कुशल ज्ञाता, दार्शनिक और अच्छे समाजवादी लेखक हैं। राजनीति और साहित्य दोनों पर आपका समान अधिकार है। एक बार आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान भी चुने जा चुके हैं। कुछ वर्षों तक आप उत्तर प्रदेश के शिक्षा मन्त्री तथा बाद में मुख्य-मन्त्री के रूप में भी काम कर चुके हैं।

डा० सम्पूर्णानन्द की भाषा शुद्ध हिन्दी है। संस्कृत के गहन अध्ययन और विचारों की दार्शनिकता के कारण भाषा में संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत मिलता हैं। इन्होंने उर्दू एवं अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग कहीं नहीं किया है। मुहावरों का भी भाषा में अभाव सा है। जिस विषय को उठाया है, उसे तर्क-सहित क्रम-बद्ध रूप में समझाकर ही छोड़ा है। वाक्य लम्बे होने पर भी भाषा में शिथिलता नहीं आने पाई है। इनकी शैली पांडित्यपूर्ण एवं गम्भीर है। भावों और भाषा में एक अनोखी समानता दिखाई देती है। कहीं-कहीं व्याख्यान शैली का भी प्रयोग किया है।

रचनाएँ:—चिद्विलास, अन्तर्राष्ट्रिय विधान, ब्राह्मण सावधान, गणेश, भाषा शक्ति, समाजवाद, स्फुटविचार आदि।

———

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

(जन्म १९०७ ई०) द्विवेदी जी का जन्म बलिया जिले के अन्तर्गत एक गांव में हुआ। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से संस्कृत साहित्य और ज्योतिष की उच्चतरीय शिक्षा प्राप्त कर ये शांतिनिकेतन में हिन्दी के अध्यापक होकर चले गए। वहां लग-भग बीस वर्षों तक अध्यापन कार्य करते रहे। सन् १९५० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। आज-कल चण्डीगढ़ विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष के रूप में कार्य कर रहे हैं। शान्तिनिकेतन में रवीन्द्र नाथ ठाकुर के संपर्क में आने पर द्विवेदी जी के दृष्टिकोण में एक नवीन चेतना और व्याप्ति आयी। वहीं रहकर इन्होंने संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया। इसके फलस्वरूप इनके चिन्तन को एक व्यापक पृष्ठभूमि मिली।

द्विवेदी जी हिन्दी के प्रमुख निबन्धकार, उपन्यास लेखक आलोचक और शोधकर्ता हैं। व्यक्तिनिष्ठ निबन्ध-लेखकों में इनका अप्रतीम स्थान है। इनका उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्म-कथा, अपने ढङ्ग का अकेला है। आलोचना के क्षेत्र में भी साहित्य की अखण्ड परम्परा और समसामयिक सामाजिक परिवेश का सामञ्जस्यमूलक दृष्टिकोण लेकर ये अवतरित हुए। द्विवेदी जी एक भावुक साहित्यकार हैं। संस्कृत साहित्य की गम्भीर पृष्ठभूमि इनके भावुकतापूर्ण सहज उच्छ्वास के साथ मिलकर इनकी शैली को अत्यन्त आकर्षक और मार्मिक बना देती है। इनकी भाषा मे तत्सम, तद्भव और उर्दू शब्दों का बड़ा ही सङ्गत प्रयोग है। गम्भीर विषय को भी अत्यंत सरल और सरस ढङ्ग से कहना इनकी शैली की प्रमुख विशेषता है।

प्रमुख रचनाएं:— अशोक के फूल, कल्पलता, विचार और वितर्क, सूर साहित्य, कबीर, हिन्दी-साहित्य, हिन्दी साहित्य की भूमिका, बाणभट्ट की आत्मकथा (उपन्यास) आदि।

श्री हरिकृष्ण प्रेमी

प्रेमी जी का जन्म ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत हुआ था। कुछ दिनों तक 'त्याग भूमि', 'कर्मवीर' और 'भारती' का संपादन करते रहे। एक वर्ष बम्बई में रहकर फिल्मों के कथानक, संवाद और गीत लिखे, लाहौर में भारती प्रेस की स्थापना की और मासिक 'सेवा' का प्रकाशन भी किया।

प्रेमी जी हिन्दी के श्रेष्ठ नाटककारों में हैं। प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक नाटकों के कथानक अतीत भारत के हिन्दू काल से ग्रहण किये और प्रेमी जी ने मुस्लिम काल से। दोनों के नाटकों मे ऐतिहासिक खण्डहरयों के भीतर से आधुनिक आदर्शों और भावनाओं की मार्मिक झलक मिलती है। प्रसाद की अपेक्षा प्रेमी के नाटक अधिक रङ्गमञ्चोपयुक्त हैं।

प्रमुख रचनाएं:--रक्षा बन्धन, शिवासाधना, प्रतिशोध, आहुति, विषपान आदि।

श्री:

जंगम जमायते मल्लिकार्जुन जंगम की जगह इस पर बदनेत करेगा सो मरेगा व धोका उठा-वेगा यह भूमी श्री श्री श्री महाराजा जैनंद-देव का शी नरेशाने दिया मी० का शु. ११ संवत ६०२ (६३१)

काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय में विराजमान है।